

## बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रम्

ईसा की द्वितीय शताब्दी में आचार्य समन्तभद्रस्वामी द्वारा ऋषभदेव से लेकर महावीरपर्यन्त चौबीस तीर्थकरों की स्तुति इस ग्रन्थ में की गई है। इस स्तोत्र में भक्ति रस में गंभीर अनुभूति एवं तर्कणा युक्त चिन्तन निबद्ध है इसका अपर नाम चतुर्विंशति स्तोत्र भी है। वंशस्थ आदि १३ प्रकार के छन्दों में कुल १४३ श्लोकों की रचना की गई है। इस स्तोत्र काव्य द्वारा एकान्त तत्त्व की समीक्षा पूर्वक स्याद्वाद से अनेकान्तामृत तत्त्व की स्थापना की है।

### श्री वृषभजिनस्तवनम्

भगवान् के स्वयंभू नाम की सार्थकता बतलाते हैं—

स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले समञ्जसज्ञानविभूतिचक्षुषा।

विराजितं येन विधुन्वता तमः क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः ॥१॥

अन्वयार्थ—(स्वयम्भुवा) जो स्वयंभू थे—दूसरे के उपदेश के बिना मोक्षमार्ग को जानकर तथा उस रूप आचरण कर अनन्तचतुष्टय स्वरूप हुए थे, (भूतहितेन) प्राणियों के लिए हितकारक थे, (समञ्जसज्ञान-विभूति-चक्षुषा) सम्यग्ज्ञान की विभूति रूप नेत्र से युक्त थे और (गुणोत्करैः करैः) स्वर्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति में कारणभूत गुणों के समूह से युक्त वचनों के द्वारा (तमः) ज्ञानावरणादि कर्मरूप एवं अज्ञानरूप अन्धकार को (विधुन्वता) नष्ट करते हुए (येन) जो (भूतले) पृथ्वीतल पर (गुणोत्करैः करैः) अर्थ-प्रकाशकत्व आदि गुणों से युक्त किरणों के द्वारा (तमः) अन्धकार को (विधुन्वता) नष्ट करते हुए (क्षपाकरेणेव) चन्द्रमा के समान (विराजितम्) सुशोभित होते थे।

गृहस्थ अवस्था में ऐसे होते हुए, भगवान् वैराग्य को प्राप्त हुए, यह कहते हैं—

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।

प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः ॥२॥

अन्वयार्थ—(यः प्रजापतिः 'बभूव') जो तीन लोक की समस्त जनता के स्वामी थे, जिन्होंने (प्रथमं) कर्मभूमि के प्रारम्भ में (प्रबुद्धतत्त्वः) मति, श्रुत

और अवधिज्ञान के द्वारा लोगों के कर्म तथा उनके फलों को जानकर (जिजीविषूः प्रजाः) जीवित रहने की इच्छुक जनता को (कृष्यादिषु कर्मसु) खेती आदि आजीविका के उपयोगी छह कार्यों में (शशास) शिक्षित किया था और (पुनः) फिर (प्रबुद्धतत्त्वः) हेय-उपादेय तत्त्व को अच्छी तरह जानकर (अद्भुतोदयः) इन्द्र आदि के द्वारा की हुई आश्चर्यकारी विशिष्ट विभूति को प्राप्त होते हुए, जो (ममत्वतः) ममता भाव से-परिग्रह विषयक आसक्ति से (निर्विविदे) विरक्त हो गये थे तथा इन सब कारणों से जो (विदांवरः) श्रेष्ठ ज्ञानी हुए थे।

विरक्त होते हुए भगवान् ने क्या किया ? यह कहते हैं—

विहाय यः सागरवारिवाससं वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीम् ।

मुमुक्षुरिक्ष्वाकु-कुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ॥३॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (मुमुक्षुः) मोक्ष के अभिलाषी अथवा संसार-समुद्र से पार उतरने के इच्छुक थे, (आत्मवान्) जितेन्द्रिय थे, (प्रभुः) सामर्थ्यवान् अथवा स्वतन्त्र थे, (सहिष्णुः) परीषह आदि की बाधाओं को सहन करने वाले थे, (अच्युतः) गृहीत व्रत से अविचलित रहने वाले थे, (इक्ष्वाकु- कुलादिः) इक्ष्वाकु कुल अथवा समस्त राजवंशों में आदि पुरुष थे और जिन्होंने (सतीम्) किसी अन्य राजा के द्वारा अभुक्त होने से पतिव्रता (इमाम्) इस (सागर-वारिवाससम्) समुद्र के जलरूप वस्त्र को धारण करने वाली-समुद्रान्त, (वसुधावधूम) धनधान्य से परिपूर्ण पृथ्वीरूपी स्त्री को (सतीं वधूमिव) पतिव्रता स्त्री के समान (विहाय) छोड़कर (प्रवव्राज) दीक्षा धारण की थी।

दीक्षा लेकर भगवान् ने क्या किया ? यह कहते हैं—

स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम् ।

जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः ॥४॥

अन्वयार्थ—(यः) जिन्होंने (स्वदोषमूलम्) अपने काम-क्रोध आदि समस्त दोषों के मूल कारण-चार घातिया कर्मों को (स्वसमाधितेजसा) परम शुक्लध्यानरूपी अग्नि के द्वारा (निर्दयभस्मसात्क्रियां निनाय) निर्दयतापूर्वक भस्मभाव को प्राप्त कराया है-समूल नष्ट कर दिया तथा जिन्होंने (अर्थिने जगते) तत्त्वज्ञान के अभिलाषी प्राणिसमूह के लिए (अञ्जसा) वास्तविक (तत्त्वं) जीवादि तत्त्वों का स्वरूप (जगाद) कहा (च) और अन्त में जो (ब्रह्मपदामृतेश्वरः) मोक्षस्थान के अविनाशी-अनन्तसुख के स्वामी (बभूव)

हुए।

यहाँ मीमांसक कहता है कि चूँकि भगवान् को अतीन्द्रिय-ज्ञान का अभाव होने से समस्त पदार्थों का ज्ञान संभव नहीं है, अतः तत्त्वों का यथार्थ प्रतिपादन कैसे हो सकता है? यह कहते हैं—

स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां समग्रविद्यात्मवपुर्निरञ्जनः।

पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो जिनो जितक्षुल्लक, वादिशासनः॥५॥

अन्वयार्थ—(विश्वचक्षुः) जिनका केवलज्ञानरूप चक्षु समस्त पदार्थों को विषय करने वाला है, जो (सताम्) इन्द्र आदि सत्पुरुषों के द्वारा (अर्चितः) पूजित हैं, (समग्र-विद्यात्मवपुः) जीवाजीवादि समस्त पदार्थों को विषय करने वाली बुद्धि ही जिनकी आत्मा का स्वरूप है, (निरञ्जनः) ज्ञानावरणादि कर्ममल से रहित होने के कारण जो निर्मल हैं, (नाभिनन्दनः) चौदहवें कुलकर नाभिराज के पुत्र हैं, (जिनः) कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वाले हैं और (जितक्षुल्लक वादिशासनः) जिन्होंने क्षुद्रवादियों के शासन को जीत लिया है अथवा (अजितक्षुल्लक-वादिशासनः) जिनका शासन क्षुद्रवादियों के द्वारा नहीं जीता जा सका है। (सः) वे (वृषभः) धर्म से सुशोभित रहने वाले अथवा धर्म को सुशोभित करने वाले वृषभनाथ भगवान् (मम) मेरे (चेतः) चित्त को (पुनातु) पवित्र करें—रगादि विकारी भावों से रहित कर, निर्मल बनावें।

## श्री अजितजिनस्तवनम्

भगवान् के अजित नाम की सार्थकता बतलाते हैं—

यस्य प्रभावात् त्रिदिवच्युतस्य क्रीडास्वपि क्षीवमुखारविन्दः।

अजेय-शक्तिर्भुवि बन्धुवर्गश्चकार नामाजित इत्यवन्ध्यम् ॥१॥

अन्वयार्थ—(त्रिदिवच्युतस्य) स्वर्ग से अवतीर्ण हुए (यस्य) जिनके (प्रभावात्) प्रभाव से उनका (बन्धुवर्गः) कुटुम्ब-समूह (क्रीडास्वपि) बालक्रीडाओं में भी (क्षीवमुखारविन्दः) हर्षोन्मत्त मुखकमल से युक्त हो जाता था तथा जिनके प्रभाव से वह बन्धुवर्ग (भुवि) पृथ्वी पर (अजेय-शक्तिः) अजेय शक्ति का धारक रहता था, इसीलिए उस बन्धुवर्ग ने (यस्य) जिनका (अजितः) अजित (इति) यह (अवन्ध्यम्) सार्थक (नाम) नाम (चकार) रखा था।

इसलिए इष्टसिद्धि के अर्थ भव्यजन अब भी उनके नाम का उच्चारण करते हैं, यह कहते हैं—

अद्यापि यस्याजितशासनस्य सतां प्रणेतुः प्रतिमङ्गलार्थम् ।

प्रगृह्यते नाम परं पवित्रं स्वसिद्धिकामेन जनेन लोके ॥२॥

अन्वयार्थ—(अजितशासनस्य) परवादियों के द्वारा अविजित अनेकान्तमत से युक्त तथा (सतां प्रणेतुः) सत्पुरुषों के प्रधान नायक (यस्य) जिन अजितनाथ भगवान् का (परं पवित्रं) अत्यन्त पवित्र (नाम) नाम (अद्यापि) आज भी (लोके) लोक में (स्वसिद्धिकामेन) अपने मनोरथों की सिद्धि के इच्छुक (जनेन) जन समूह के द्वारा (प्रतिमङ्गलार्थम्) प्रत्येक मंगल के लिए (प्रगृह्यते) सादर ग्रहण किया जाता है ।

जिन भगवान् का नाम लिया जाता है, वे किस प्रकार प्रतिबन्धकों का क्षय करके सर्वज्ञ हुए थे ? यह कहते हैं—

यः प्रादुरासीत् प्रभुशक्तिभूम्ना भव्याशयालीनकलङ्कशान्त्यै ।

महामुनिर्मुक्तघनोपदेहो यथारविन्दाभ्युदयाय भास्वान् ॥३॥

अन्वयार्थ—(मुक्तघनोपदेहः) ज्ञानावरणादि कर्मरूप सघन आवरण से रहित (यः) जो (महामुनिः) गणधरादि देवों में प्रधान अथवा प्रत्यक्षज्ञानी अजितनाथ भगवान् (भव्याशयालीन-कलङ्कशान्त्यै) भव्यजनों के हृदय में संलग्न अज्ञान अथवा उसके कारणभूत ज्ञानावरणादि कर्मरूप कलंक की शान्ति के लिए (प्रभुशक्तिभूम्ना) जगत् का उपकार करने में समर्थ वाणी के माहात्म्य विशेष अथवा प्रभुत्वशक्ति की प्रचुरता से ('तथा' प्रादुरासीत्) उस तरह प्रकट हुए थे (यथा) जिस तरह कि (मुक्तघनोपदेहः) मेघरूप आच्छादन से मुक्त (भास्वान्) सूर्य (अरविन्दाभ्युदयाय) कमलों के विकासरूप अभ्युदय के लिए प्रकट होता है ।

उत्पन्न हुए भगवान् ने क्या किया ? यह कहते हैं—

येन प्रणीतं पृथु धर्मतीर्थं ज्येष्ठं जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखम् ।

गाङ्गं हृदं चन्दनपङ्कशीतं गजप्रवेका इव घर्मतप्ताः ॥४॥

अन्वयार्थ—(येन) जिन अजितनाथ भगवान् के द्वारा (प्रणीतं) प्रकाशित (पृथु) अत्यन्त विस्तृत एवं (ज्येष्ठं) श्रेष्ठ (धर्मतीर्थं) धर्मरूपी तीर्थ अथवा धर्म के प्रतिपादक श्रुत को (प्राप्य) पाकर (जनाः) भव्यजीव (दुःखं) संसार

परिभ्रमणरूप क्लेश को उस तरह (जयन्ति) जीत लेते हैं, जिस तरह कि (घर्मतप्ताः) सूर्य के आताप से पीड़ित (गजप्रवेकाः) बड़े-बड़े हाथी (इव) की तरह (चन्दनपङ्कशीतं) चन्दन के द्रव के समान शीतल (गाङ्गं हृदं) गङ्गा नदी के द्रव-अगाध जल को पाकर सूर्य के संताप से उत्पन्न दुःख को जीत लेते हैं।

किस फल का लक्ष्य कर भगवान् ने धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति की ? यह कहते हैं—

स ब्रह्मनिष्ठः सममित्रशत्रु - विद्याविनिर्वान्तकषायदोषः।

लब्धात्मलक्ष्मीरजितोऽजितात्मा जिनश्रियं मे भगवान् विधत्ताम् ॥५॥

अन्वयार्थ—(विद्याविनिर्वान्त-कषाय-दोषः) जिन्होंने परमागम के ज्ञान और उसमें प्रतिपादित मोक्षमार्ग के अनुष्ठानरूप विद्या के द्वारा कषायरूपी दोषों को अथवा द्रव्यक्रोधादिरूप कषाय और भावक्रोधादिरूप दोषों को बिल्कुल नष्ट कर दिया है, जो (ब्रह्मनिष्ठः) शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थित हैं, (सममित्र-शत्रुः) जिन्हें मित्र और शत्रु समान हैं, (लब्धात्मलक्ष्मीः) जो आत्मा की अनन्तज्ञानादिरूप लक्ष्मी को प्राप्त कर चुके हैं और (जितात्मा) जिन्होंने अपने आपको जीत लिया है अर्थात् जो इन्द्रियों के अधीन नहीं हैं, (सः) वे (अजितः भगवान्) अन्तरंग-बहिरंग शत्रुओं के द्वारा अपराजित अजितनाथ भगवान् (मे) मेरे लिए (जिनश्रियम्) आर्हन्त्यलक्ष्मी-अनन्तज्ञानादि विभूति (विधत्ताम्) प्रदान करें।

### श्री शम्भवजिनस्तवनम्

भगवान् के शंभव नाम की सार्थकता बतलाते हुए कहते हैं—

त्वं शम्भवः संभवतर्षरोगैः सन्तप्यमानस्य जनस्य लोके।

आसीरिहाकस्मिक् एव वैद्यो वैद्यो यथाऽनाथरूजां प्रशान्त्यै ॥१॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (त्वं शंभवः) आपसे भव्य जीवों को सुख प्राप्त होता है, इसलिए आप 'शंभव' इस सार्थक नाम को धारण करने वाले हैं। आप (इह लोके) इस संसार में (संभवतर्षरोगैः) सांसारिक भोग तृष्णा रूप रोगों से (सन्तप्यमानस्य) अतिशय पीड़ित (जनस्य) जन समूह के लिए (तथा) उस तरह (आकस्मिक् एव) फल की अपेक्षा से रहित (वैद्यः) वैद्य (आसीः) हुए थे, (यथा) जिस तरह कि (अनाथरूजाम्) अशरण मनुष्यों के रोगों की (प्रशान्त्यै) शान्ति के लिए (वैद्यः) धनादि की इच्छा से रहित वैद्य होता है।

जिस संसार के भगवान् आकस्मिक वैद्य हुए, वह कैसा है ? यह बतलाते हैं—

अनित्यमत्राणमहंक्रियाभिः प्रसक्तमिथ्याध्यवसायदोषम् ।

इदं जगज्जन्मजरान्तकार्तं निरञ्जनां शान्तिमजीगमस्त्वम् ॥२॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (अनित्यम्) विनश्वर (अत्राणम्) रक्षक रहित, (अहंक्रियाभिः) 'मैं' ही सब पदार्थों का कर्ता-धर्ता हूँ, इस प्रकार अहंकार-ममकार की क्रियाओं से (प्रसक्त-मिथ्याध्यवसायदोषम्) संलग्न मिथ्या-अभिनिवेशरूप दोष से दूषित तथा (जन्मजरान्तकार्तं) जन्म, बुढ़ापा और मृत्यु से पीड़ित (इदं जगत्) इस जगत् को (त्वम्) आपने (निरञ्जनां) कर्मकलङ्क से रहित मुक्तिरूप (शान्तिं) शान्ति को (अजीगमः) प्राप्त कराया है ।

इसके सिवाय आपने क्या किया ? यह कहते हैं—

शतहृदोन्मेषचलं हि सौख्यं तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः ।

तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं तापस्तदायासयतीत्यवादीः ॥३॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय से (सौख्यं) इन्द्रियजन्य सुख (शत-हृदोन्मेषचलं) बिजली की कौंध के समान चञ्चल है तथा (तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः) तृष्णारूपी रोग की पुष्टि मात्र का कारण है (च) और (तृष्णाभिवृद्धिः) तृष्णा की चौमुखी वृद्धि (अजस्रं) निरन्तर (तपति) ताप उत्पन्न करती है एवं वह (तापः) ताप (तत्) जगत् को (आयासयति) क्लेशों की परम्परा द्वारा दुखी करता है, (इति अवादीः) ऐसा आपने कहा था ।

आगे बन्ध मोक्ष की व्यवस्था आपके ही मत में बनती है, सुगत आदि के मत में नहीं, यह कहते हैं—

बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः ।

स्याद्वादिनो नाथ! तवैव युक्तं नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥४॥

अन्वयार्थ—(हे नाथ) हे स्वामिन् (बन्धश्च) बन्ध, (मोक्षश्च) मोक्ष, (तयोः हेतू च) बन्ध और मोक्ष के हेतू (बद्धश्च) बद्ध आत्मा (मुक्तश्च) मुक्त आत्मा (च) और (मुक्तेः) मुक्ति का (फलं) फल.... यह सब (स्याद्वादिनः) अनेकान्तमत से निरूपण करने वाले (तवैव) आपके ही (मते) मत में (युक्तं) ठीक होता है । (एकान्तदृष्टेः न) एकान्तदृष्टि रखने वाले बौद्ध अथवा सांख्य आदि के मत में ठीक नहीं होता (अतः) इसलिए (त्वम्) आप ही (शास्ता) तत्त्वोपदेष्टा (असि) हैं ।

आगे स्तुतिकर्ता अपने गर्व का परिहार करते हैं—

शक्रोऽप्यशक्तस्तव पुण्यकीर्तेः स्तुत्यां प्रवृत्तः किमु मादृशोऽज्ञः ।

तथापि भक्त्या स्तुतपादपद्मो ममार्य देयाः शिवतातिमुच्चैः ॥५॥

अन्वयार्थ—(हे आर्य!) गुणों अथवा गुणवानों के द्वारा सेव्य; हे शंभव जिनेन्द्र! (पुण्यकीर्तेः) पवित्र ख्याति, पवित्र वाणी अथवा पुण्यवर्धक स्तुति से युक्त (तव) आपकी (स्तुत्यां) स्तुति में (प्रवृत्तः) प्रवृत्त हुआ (शक्रः अपि) अवधिज्ञानी और समस्त श्रुत का धारक इन्द्र भी जब (अशक्तः) असमर्थ रहा है, तब (मादृशः अज्ञः किमु) मेरे जैसा अज्ञानी पुरुष कैसे समर्थ हो सकता है? यद्यपि यह बात है (तथापि) तो भी (भक्त्या) तीव्र अनुराग द्वारा (स्तुतपादपद्मः) स्तुत चरणकमलों से युक्त आप (मम) मेरे लिए (उच्चैः) उत्कृष्ट (शिवतातिम्) यथार्थ सुख की सन्तति को (देयाः) प्रदान करें।

### श्री अभिनन्दनजिनस्तवनम्

भगवान के अभिनन्दन नाम की सार्थकता कहते हैं—

गुणाभिनन्दादभिनन्दनो भवान् दयावधूं क्षान्तिसखीमशिश्नियत् ।

समाधितन्त्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यगुणेन चायुजत् ॥१॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (गुणाभिनन्दात्) अनन्तज्ञानादि अन्तरंग और सकल लक्ष्मी आदि बहिरंग गुणों की वृद्धि होने से (अभिनन्दनः) अभिनन्दन इस सार्थक नाम को धारण करने वाले (भवान्) आपने (क्षान्तिसखीं) क्षमा रूप सखी से सहित (दयावधूम्) दयारूप स्त्री का (अशिश्नियत्) आश्रय लिया था तथा (समाधितन्त्रः) धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानरूप समाधि को प्रधान लक्ष्य बनाकर (तदुपोपपत्तये) उसकी सिद्धि के लिए आप (द्वयेन) अन्तरंग और बहिरंग के भेद से दोनों प्रकार के (नैर्ग्रन्थ्यगुणेन च) निष्परिग्रहत्तरूप गुण से (अयुजत्) युक्त हुए थे।

अब दयारूप वधू को प्राप्त कर भगवान् ने क्या किया? यह कहते हैं—

अचेतने तत्कृतबन्धजेऽपि च ममेदमित्याभिनवेशिकग्रहात् ।

प्रभङ्गुरे स्थावरनिश्चयेन च क्षतं जगत्तत्त्वमजिग्रहद्भवान् ॥२॥

अन्वयार्थ—(अचेतने) अचेतन शरीर में (च) और (तत्कृतबन्धजेऽपि) उस अचेतन शरीर के द्वारा किए हुए कर्मबन्ध से उत्पन्न सुख-दुःखादिक तथा स्त्री-पुत्रादिक परपदार्थों में (ममेदम्) यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ (इति) इस

प्रकार के (आभिनवेशिकग्रहात्) मिथ्या अभिप्राय को स्वीकार करने से अथवा मिथ्या अभिप्राय रूप पिशाच से (च) तथा (प्रभङ्गरे) विनश्वर शरीर आदि परपदार्थ में (स्थावरनिश्चयेन) स्थायित्व के निश्चय से (क्षतं) नष्ट हुए (जगत्) जगत् को (भवान्) आपने (तत्त्वं) जीवादि पदार्थों का यथार्थ स्वरूप (अजिग्रहत्) ग्रहण कराया था—समझाया था।

आगे आपने किस रूप से तत्त्व ग्रहण कराया ? यह कहते हैं—

क्षुदादिदुःखप्रतिकारतः स्थितिर्न चेन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः।

ततो गुणो नास्ति च देहदेहिनोरितीदमित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत् ॥३॥

अन्वयार्थ—(क्षुदादिदुःखप्रतिकारतः) क्षुधा-तृषादि के दुख का प्रतिकार करने से—भोजनपान ग्रहण करने से (च) और (इन्द्रियार्थप्रभवाल्प-सौख्यतः) स्पर्शनादि इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न अल्प सुख से (देहदेहिनोः) शरीर और शरीरधारी आत्मा की (स्थितिः) सदा स्थिति (न) नहीं रहती, (ततः) इसलिए उनसे उनका कुछ (गुणः) उपकार (नास्ति) नहीं है। (इत्थम्) इस तरह (इदम्) इस जगत् को (भगवान्) भगवान् अभिनन्दन जिनेन्द्र ने (इति) यह परमार्थ तत्त्व (व्यजिज्ञपत्) बतलाया था।

परम दयालु भगवान् ने जगत् के उपकार के लिए यह कहा, यह बतलाते हैं—

जनोऽतिलोलोऽप्यनुबन्धदोषतो भयादकार्येष्विह न प्रवर्तते।

इहाप्यमुत्राप्यनुबन्धदोषवित् कथं सुखे संसजतीति चाब्रवीत् ॥४॥

अन्वयार्थ—(जनः) मनुष्य (अतिलोलः अपि 'सन्') अत्यन्त आसक्त होता हुआ भी (अनुबन्धदोषतः) आसक्ति रूप दोष से (भयात्) राजा आदि के भय के कारण (इह) इस संसार में (अकार्येषु) परस्त्री सेवन आदि अकरणीय कार्यों में (न प्रवर्तते) प्रवृत्त नहीं होता है फिर (इहापि अमुत्रापि) इहलोक और परलोक दोनों ही जगह (अनुबन्धदोषवित्) आसक्ति के दोष को जानने वाला मनुष्य (सुखे) विषय सुख में (कथं संसजति) कैसे आसक्त होता है? यह आश्चर्य की बात है। (इति च अब्रवीत्) हे अभिनन्दन जिनेन्द्र! जगत् के जीवों को आपने यह भी बतलाया था।

विषयासक्ति रूप अनुबन्ध में और भी दोष दिखलाते हुए कहते हैं—



स चानुबन्धोऽस्य जनस्य तापकृत् तृषोऽभिवृद्धिः सुखतो न च स्थितिः ।

इति प्रभो लोकहितं यतो मतं ततो भवानेव गतिः सतां मतः ॥५॥

अन्वयार्थ—(सः अनुबन्धः) वह आसक्तता (च) और आसक्तता से उत्पन्न होने वाली (तृषोऽभिवृद्धिः) उत्तरोत्तर तृष्णा की वृद्धि दोनों ही (अस्य जनस्य) इस विषयासक्त मनुष्य के लिए (तापकृत्) संताप उत्पन्न करने वाली है। (सुखतः) प्राप्त हुए अल्पमात्र विषय सुख से (न च स्थितिः) जीव की सुख से स्थिति नहीं होती अर्थात् अल्प सुख से जीव संतुष्ट नहीं होता (इति) इस तरह (प्रभो!) हे स्वामिन् (यतः) चूँकि (मतं) आपका मत (लोकहितं) लोककल्याणकारी है, (ततः) इसलिए (भवानेव) आप ही (सतां) विवेक-शाली सत्पुरुषों के (गतिः) शरण (मतः) माने गये हैं।

### श्री सुमतिजिनस्तवनम्

भगवान् 'सुमति' इस नाम की सार्थकता बतलाते हैं—

अन्वर्थसंज्ञः सुमतिर्मुनिस्त्वं स्वयं मतं येन सुयुक्तिनीतम् ।

यतश्च शेषेषु मतेषु नास्ति सर्वक्रियाकारक-तत्त्वसिद्धिः ॥१॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (त्वम्) आप (मुनिः) प्रत्यक्षज्ञानी हैं तथा (सुमतिः अन्वर्थसंज्ञः) सुमति इस सार्थक संज्ञा से युक्त हैं—उत्तम बुद्धि से सहित होने के कारण आपका 'सुमति' नाम सार्थक है, (येन) क्योंकि आपने (सुयुक्तिनीतं) उत्तम युक्तियों से युक्त (तत्त्वं) तत्त्व (स्वयं मतं) स्वीकृत किया है (च) और (यतः) जिस कारण से (शेषेषु मतेषु) आपके मत से शेष अन्य मतों में (सर्वक्रियाकारक-तत्त्वसिद्धिः) सम्पूर्ण क्रियाओं तथा कर्ता, कर्म, करण आदि कारकों की तत्त्वसिद्धि (नास्ति) नहीं है।

आगे तत्त्व की सुयुक्तियुक्तता दिखलाते हुए कहते हैं—

अनेक-मेकं च तदेव तत्त्वं भेदान्वयज्ञानमिदं हि सत्यम् ।

मृषोपचारोऽन्यतरस्य लोपे तच्छेषलोपोऽपि ततोऽनुपाख्यम् ॥२॥

अन्वयार्थ—(तदेव तत्त्वं) वही सुयुक्ति को प्राप्त तत्त्व (अनेकं च एकं) अनेक तथा एक रूप है। (हि) निश्चय से (इदं भेदान्वयज्ञानं) अनेक को विषय करने वाला यह भेदज्ञान और एक को विषय करने वाला यह अन्वय ज्ञान (सत्यम्) यथार्थ है। इनमें से किसी एक को (उपचारः) उपचाररूप कल्पित मानना (मृषा) मिथ्या है, क्योंकि (अन्यतरस्य) दो में से किसी एक

का (लोपे) लोप—अभाव होने पर (तच्छेषलोपोऽपि) उससे शेष अन्य धर्म का भी अभाव हो जाता है और (ततः) दोनों का अभाव हो जाने से तत्त्व (अनुपाख्यम्) निःस्वभाव होने से अवाच्य हो जाता है।

इस प्रकार जीवादि पदार्थों की द्रव्य और पर्याय रूपता दिखलाकर, अब भावा-भावात्मकता दिखलाते हैं—

सतः कथञ्चित्तदसत्त्वशक्तिः खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धम्।

सर्वस्वभावच्युतमप्रमाणं स्ववाग्विरुद्धं तव दृष्टितोऽन्यत् ॥३॥

अन्वयार्थ—(सतः) स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा सदरूप जीवादि पदार्थ के (कथञ्चित्) किसी अपेक्षा परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा (असत्त्वशक्तिः) असदरूपता है। जैसे कि (पुष्पं) फूल (तरुषु) वृक्षों पर (प्रसिद्धं) प्रसिद्ध है और (खे) आकाश में (नास्ति) नहीं है। यदि तत्त्व को (सर्वस्वभावच्युतं) सत्त्व और असत्त्व दोनों प्रकार के स्वभाव से च्युत माना जावेगा तो वह (अप्रमाणं) प्रमाण रहित हो जायेगा। हे भगवन्! (तव दृष्टितः अन्यत्) तुम्हारे दर्शन के सिवाय अन्य सब दर्शन (स्ववाग् विरुद्धं) स्ववाणी से विरुद्ध हैं अर्थात् स्ववचनबाधित हैं।

इस प्रकार जीवाजीवादि तत्त्वों की युगपत् सदसद्रूपता दिखलाकर, अब प्रतिवादी के मत में दूषण देते हुए क्रम से सदसद्रूपता दिखलाते हैं—

न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति न च क्रियाकारक - मत्र - युक्तम्।

नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति ॥४॥

अन्वयार्थ—(सर्वथा नित्यं) सब प्रकार से नित्य वस्तु (न उदेति न अपैति) न उत्पन्न होती है, न नष्ट ही होती है (च न) और न (अत्र) इस मान्यता में (क्रियाकारकं युक्तम्) क्रियाकारक भाव ही संगत होता है, क्योंकि (असतः) असत्—अविद्यमान पदार्थ का (नैव जन्म) जन्म नहीं होता और (सतो न नाशः) सत्—विद्यमान पदार्थ का नाश नहीं होता। यदि कहा जाये कि जलता हुआ दीपक बुझा देने पर उसमें क्या शेष रह जाता है? यहाँ तो सत् का नाश मानना ही पड़ेगा तो उसका उत्तर यह है कि (दीपः) दीपक (तमः पुद्गलभावतः अस्ति) अन्धकाररूप पुद्गल द्रव्य के रूप में विद्यमान रहता है।

अब जीवादि तत्त्वों में नित्यानित्यात्मकपने का निरूपण करते हुए कहते हैं—

विधिर्निषेधश्च कथञ्चिदिष्टौ विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था।

इति प्रणीतिः सुमतेस्तवेयं मतिप्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ ॥५॥

अन्वयार्थ—(विधिः) अस्तित्व (च) और (निषेधः) नास्तित्व दोनों ही (कथञ्चित्) किसी अपेक्षा से (इष्टौ) इष्ट हैं। (विवक्षया) वक्ता की इच्छा से उनमें (मुख्यगुण-व्यवस्था) मुख्य और गौण की व्यवस्था होती है। (इति) इस तरह (इयं) यह (प्रणीतिः) तत्त्व निरूपण की पद्धति (सुमतेः तव) आप सुमतिनाथ स्वामी की है। (नाथ) हे स्वामिन्! ('त्वां' स्तुवतः 'मे') आपकी स्तुति करते हुए मुझे (मतिप्रवेकः) मति का उत्कर्ष (अस्तु) प्राप्त होवे।

### श्रीपद्मप्रभजिनस्तवनम्

भगवान् के पद्मप्रभ इस नाम की सार्थकता दिखलाते हैं—

पद्मप्रभः पद्मपलाशलेश्यः पद्मालयालिङ्गितचारुमूर्तिः।

बभौ भवान् भव्यपयोरुहाणां पद्माकराणामिव पद्मबन्धुः॥१॥

अन्वयार्थ—(पद्मपलाशलेश्यः) जिनके शरीर का वर्ण कमल पत्र के समान लाल रंग का था तथा (पद्मालयालिङ्गितचारुमूर्तिः) जिनकी आत्मस्वरूप निर्मल मूर्ति अनन्तज्ञानादिरूप अन्तरंग लक्ष्मी से एवं जिनकी समस्त उत्तम लक्षणों से सहित शरीररूप मूर्ति निःस्वेदत्व आदि-पसीना के अभाव आदि रूप बाह्य लक्ष्मी से आलिङ्गित थी ऐसे (पद्मप्रभः) पद्मप्रभ जिनेन्द्र थे। हे जिनेन्द्र! (भवान्) आप (भव्यपयोरुहाणां) भव्यजीवरूप कमलों के हितोपदेशरूप विकास के लिए, उस तरह (बभौ) सुशोभित हुए थे, (पद्माकराणामिव पद्मबन्धुः) जिस तरह कि कमल समूह के विकास के लिए सूर्य सुशोभित होता है।

आगे भगवान् के हितोपदेश की प्रामाणिकता बतलाते हैं—

बभार पद्मां च सरस्वतीं च भवान्पुरस्तात्प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः।

सरस्वतीमेव समग्रशोभां सर्वज्ञलक्ष्मीं ज्वलितां विमुक्तः ॥२॥

अन्वयार्थ—हे पद्मप्रभजिनेन्द्र! (भवान्) आपने (प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः पुरस्तात्) मोक्षरूपी लक्ष्मी के पूर्व अर्थात् अरहन्त अवस्था में (पद्माम्) अनन्तज्ञानादिरूप लक्ष्मी (च) और (सरस्वतीं च) दिव्यवाणी-दिव्यध्वनि को (बभार) धारण किया था अथवा (समग्रशोभां) समस्त पदार्थों के प्रतिपादन रूप विभूति और समवसरणादि रूप समस्त शोभा से युक्त (सरस्वतीमेव)

दिव्यवाणी को ही धारण किया था। पीछे (विमुक्तः सन्) समस्त कर्ममल से रहित होकर (ज्वलितां) देदीप्यमान—सदा उपयोग रूप (सर्वज्ञलक्ष्मीं) सर्वज्ञतारूप लक्ष्मी को धारण किया था।

आगे आपके शरीर की कान्ति के विस्तार ने प्रतिमुक्ति लक्ष्मी के पूर्व क्या किया ? यह कहते हैं—

शरीररश्मिप्रसरः प्रभोस्ते बालार्क - रश्मिच्छविरालिलेप।

नरामराकीर्णसभां प्रभावच्छैलस्य पद्माभमणेः स्वसानुम् ॥३॥

अन्वयार्थ—(बालार्क-रश्मिच्छविः) प्रातःकालीन सूर्य की किरणों के समान कान्ति वाले (ते प्रभोः) आप स्वामी के (शरीररश्मिप्रसरः) शरीर सम्बन्धी किरणों के समूह ने (नरामराकीर्ण-सभां) मनुष्य और देवों से व्याप्त समवसरण सभा को (पद्माभमणेः शैलस्य प्रभावत् स्वसानुमिव आलि-लेप) उस तरह आलिप्त कर रखा था, जिस तरह कि पद्मरागमणि के पर्वत की प्रभा अपने पार्श्व भाग को आलिप्त कर रखती है।

आगे इस प्रकार के भगवान् क्या एक ही स्थान पर बैठकर रह गये अथवा विहार किया ? यह कहते हैं—

नभस्तलं पल्लवयन्निव त्वं सहस्रपत्राम्बुजगर्भचारैः।

पादाम्बुजैः पातितमारदर्पो भूमौ प्रजानां विजहर्थ भूत्यै ॥४॥

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र ! (पातितमारदर्पः) कामदेव के गर्व को नष्ट करने वाले (त्वम्) आपने (सहस्रपत्राम्बुजगर्भचारैः) सहस्रदल कमलों के मध्य में चलने वाले अपने (पादाम्बुजैः) चरण कमलों के द्वारा (नभस्तलं) आकाश तल को (पल्लवयन्निव) पल्लवों से युक्त जैसा करते हुए (भूमौ) पृथिवी पर स्थित (प्रजानां विभूत्यै) प्रजाजनों की विभूति के लिए (विजहर्थ) विहार किया था।

अब कवि अपनी उद्धतता का परिहार करते हुए कहते हैं—

गुणाम्बुधेर्विप्रुषमप्यजस्रं नाखण्डलः स्तोतुमलं तवर्षेः।

प्रागेव मादृक् किमुतातिभक्ति-र्मा बालमालापयतीदमित्थम् ॥५॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (ऋषेः) समस्त ऋद्धियों के निधान स्वरूप (तव) आपके (गुणाम्बुधेः) गुणरूप सागर की (विप्रुषमपि) एक बूँद की भी (अजस्रम्) निरन्तर (स्तोतुं) स्तुति करने के लिए जब (आखण्डलः) इन्द्र (प्रागेव) पहले ही (अलं न) समर्थ नहीं हो सका है, तब (मादृक्) मेरे जैसा असमर्थ मनुष्य (किम् उत) कैसे समर्थ हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

(अतिभक्तिः) यह तीव्र भक्ति ही (मां बालं) मुझ अज्ञानी से (इत्थं) इस तरह (इदं) इस स्तवन को (आलापयति) कहला रही है।

### श्री सुपाश्व-जिनस्तवनम्

आगे सच्चे स्वास्थ्य का लक्षण कहते हुए कहते हैं—

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां स्वार्थो न भोगः परिभङ्गुरात्मा ।

तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशान्तिरितीदमाख्यद् भगवान्सुपाश्वः ॥१॥

अन्वयार्थ—(यत् आत्यन्तिकं स्वास्थ्यम्) जो अविनाशी स्वरूपलीनता है (एष) यही (पुंसां) जीवात्माओं का (स्वार्थः) निजी प्रयोजन है, (परि-भङ्गुरात्मा) क्षणभंगुर (भोगः) भोग (स्वार्थः न) निजी प्रयोजन नहीं है। (तृषः) उत्तरोत्तर भोगाकांक्षा की (अनुषङ्गात्) वृद्धि से (न च तापशान्तिः) ताप की शान्ति नहीं होती है, (इति इदम्) इस प्रकार यह विवेक (भगवान् सुपाश्वः) विशिष्ट ज्ञानी सुपाश्वनाथ ने (आख्यत्) कहा है।

भगवान् ने न केवल उक्त सुखादि का उपदेश दिया, किन्तु शरीर के उपदेश का भी क्रम रखा है, यह कहते हैं—

अजङ्गमं जङ्गमनेययन्त्रं यथा तथा जीवधृतं शरीरम् ।

बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च स्नेहो वृथात्रेति हितं त्वमाख्यः ॥२॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (जङ्गमनेययन्त्रं) गतिशील मनुष्य के द्वारा चलाया जाने वाला यन्त्र स्वयं (अजङ्गमं) गति रहित होता है, (तथा) उसी तरह (जीवधृतं) जीव के द्वारा धारण किया हुआ (शरीरं) शरीर स्वयं (अजङ्गमं) गति रहित है—जड़ है। साथ ही यह शरीर (बीभत्सु) घृणित (पूति) दुर्गन्ध से युक्त, (क्षयि) विनश्वर (च) और (तापकं) संताप उत्पन्न करने वाला है इसलिए (अत्र) इस शरीर में (स्नेहः) अनुश्रवण करना (वृथा) व्यर्थ है। (इति) यह (हितं) हितकारक वचन (त्वम्) हे सुपाश्व जिन! आपने (आख्यः) कहा है।

यदि भगवान् ने हित का उपदेश दिया था तो उनके वचन सुनकर सभी लोग शरीरादि से विरक्त होकर हित के मार्ग में क्यों नहीं लगे? यह कहते हैं—

अलङ्घ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा ।

अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्त्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः ॥३॥

अन्वयार्थ—(हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा) शुभ-अशुभ कर्म अथवा बाह्य

और आभ्यन्तर दोनों कारणों से उत्पन्न होने वाला कार्य ही जिसका लिंग-ज्ञापक है, ऐसी (इयं) यह (भवितव्यता) भवितव्यता-होनहार (अलङ्घ्य-शक्तिः) अलङ्घ्यशक्ति है-किसी भी तरह टाली नहीं जा सकती तथा भवितव्यता की अपेक्षा नहीं रखने वाला (अहंक्रियार्त्तः) अहंकार से पीड़ित हुआ (जन्तुः) संसारी प्राणी (संहत्यकार्येषु) अनेक सहकारी कारणों से मिलकर भी सुख-दुखादि कार्यों में (अनीश्वरः) असमर्थ है। हे सुपाश्वर्जिनेन्द्र! आपने (इति) यह (साधु) ठीक ही (अवादीः) कहा है।

आगे यही दिखलाते हुए कहते हैं-

बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो नित्यं शिवं वाञ्छति नास्य लाभः।

तथापि बालो भयकामवश्यो वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादीः ॥४॥

अन्वयार्थ-यह जीव (मृत्योः) मरण से (बिभेति) डरता है परन्तु (ततः) उससे (मोक्षः) छुटकारा (न अस्ति) नहीं है। (नित्यं) सदा (शिवं) कल्याण अथवा निर्वाण की (वाञ्छति) इच्छा करता है परन्तु (अस्य लाभः न) इसकी प्राप्ति नहीं होती। (तथापि) फिर भी (भयकाम-वश्यः) भय और काम के वशीभूत हुआ (बालः) अज्ञानी प्राणी (स्वयं) स्वयं ही (वृथा) निष्प्रयोजन (तप्यते) दुखी होता है। हे भगवन् (इति) यह आपने (अवादीः) कहा है। यहाँ कोई कहता है कि हेयोपादेय तत्त्व का ठीक-ठीक ज्ञान होने पर ही उनका उपदेश प्रामाणिकता को प्राप्त होता है-

सर्वस्य तत्त्वस्य भवान्प्रमाता मातेव बालस्य हितानुशास्ता।

गुणावलोकस्य जनस्य नेता मयापि भक्त्या परिणूयसेऽद्य ॥५॥

अन्वयार्थ-(भवान्) आप (सर्वस्य तत्त्वस्य) समस्त जीवादि पदार्थों के (प्रमाता) संशयादि रहित ज्ञाता हैं, (बालस्य) सन्तान को (मातेव) माता के समान अज्ञानी जनों को (हितानुशास्ता) हित का उपदेश देने वाले हैं और (गुणावलोकस्य जनस्य) सम्यग्दर्शनादि गुणों का अन्वेषण करने वाले भव्य समूह के (नेता) सन्मार्ग दर्शक हैं अतः (अद्य) आज (मयापि) मुझ समन्तभद्र के द्वारा भी; हे सुपाश्वर्जिनेन्द्र! (त्वम्) आप (भक्त्या) भक्ति पूर्वक (परिणूयसे) मन, वचन, काय से स्तुत हो रहे हैं-मैं मनसा-वाचा-कर्मणा आपकी स्तुति कर रहा हूँ।

## श्री चन्द्रप्रभजिनस्तवनम्

भगवान् के चन्द्रप्रभ नाम की सार्थकता बतलाते हैं—

चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं चन्द्रं द्वितीयं जगतीव कान्तम्।

वन्देऽभिवन्द्यं महतामृषीन्द्रं जिनं जितस्वान्तकषायबन्धम् ॥१॥

अन्वयार्थ—मैं (चन्द्रमरीचिगौरं) चन्द्रमा की किरणों के समान गौर वर्ण, (जगति) संसार में (द्वितीयं चन्द्रमिव कान्तं) दूसरे चन्द्रमा के समान सुन्दर, (महतां) इन्द्र आदि बड़े-बड़े जनों के (अभिवन्द्यं) वन्दनीय, (ऋषीन्द्रं) गणधरादि ऋषियों के स्वामी, (जिनं) कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वाले और (जितस्वान्तकषायबन्धम्) अपने विकारी भाव स्वरूप कषाय के बन्धन को जीतने वाले, (चन्द्रप्रभं) चन्द्रमा के समान कान्ति के धारक चन्द्रप्रभ नामक अष्टम तीर्थंकर को (वन्दे) वन्दना करता हूँ।

चन्द्रप्रभ भगवान् की विशेषता बतलाते हुए कहते हैं—

यस्याङ्गुलक्ष्मीपरिवेषभिन्नं तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नम्।

ननाश बाह्यं बहु मानसं च ध्यानप्रदीपातिशयेन भिन्नम् ॥२॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जिनके (अङ्गुलक्ष्मीपरिवेषभिन्नं) शरीर सम्बन्धी दिव्यप्रभा-मण्डल से विदारित (बहु) बहुत सारा (बाह्यं) बाह्य अन्धकार (च) और (ध्यान-प्रदीपातिशयेन) शुक्लध्यानरूपी श्रेष्ठ दीपक के अतिशय से (भिन्नं) विदारित (बहु) बहुत सारा (मानसं) मानसिक अज्ञानान्धकार (तमोरेः) सूर्य की (रश्मिभिन्नं) किरणों से विदारित (तम इव) अन्धकार के समान (ननाश) नष्ट हो गया था।

अब इस प्रकार के भगवान् के वचन सुनकर प्रतिवादी मद रहित हो गये, यह कहते हैं—

स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्ता वाक्सिंहनादैर्विमदा बभूवुः।

प्रवादिनो यस्य मदार्द्रगण्डा गजा यथा केसरिणो निनादैः ॥३॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (केसरिणः) सिंह की (निनादैः) गर्जनाओं से (मदार्द्रगण्डाः) मद से गीले गण्डस्थलों के धारक (गजाः) हाथी (विमदाः) मद से रहित हो जाते हैं (तथा) उसी प्रकार (यस्य) जिनके (वाक्सिंहनादैः) वचन रूप सिंहनादों के द्वारा (स्वपक्षसौस्थित्य-मदावलिप्ताः) अपने मत-पक्ष की सुस्थिति के घमण्ड से गर्वीले (प्रवादिनः) प्रवादीजन (विमदाः) गर्व रहित (बभूवुः) हो जाते थे।

भगवान् फिर कैसे हैं ? यह बतलाते हैं—

यः सर्वलोके परमेष्ठितायाः पदं बभूवाद्भुतकर्मतेजाः ।

अनन्तधामाक्षरविश्वचक्षुः समन्तदुःखक्षयशासनश्च ॥४॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (सर्वलोके) समस्त संसार में (परमेष्ठितायाः) परमाप्तपना के (पदं) स्थान (बभूव) थे, (अद्भुत-कर्मतेजाः) तीव्र तपश्चरणरूप कार्य से जिनका तेज अद्भुत-अचिन्त्य था अथवा समस्त प्राणिसमूह को प्रतिबोधित करने रूप कार्य में जिनका केवलज्ञान रूप तेज आश्चर्यकारक था, (अनन्त-धामाक्षरविश्वचक्षुः) अनन्त केवलज्ञान ही जिनका लोकालोक को प्रकाशित करने वाला अविनाशी चक्षु था, (च) और (समन्त-दुःखक्षयशासनः) जिनका शासन चतुर्गति के दुखों का क्षय करने वाला था ।

चन्द्रप्रभ भगवान् फिर कैसे हैं ? यह बतलाते हैं—

स चन्द्रमा भव्यकुमुद्वतीनां विपन्नदोषाभ्रकलङ्कलेपः ।

व्याकोशवाङ्न्यायमयूखमालः पूयात्पवित्रो भगवान्मनो मे ॥५॥

अन्वयार्थ—जो (भव्यकुमुद्वतीनां चन्द्रमाः) भव्यजीवरूप कुमुदिनियों को विकसित करने के लिए चन्द्रमा हैं, (विपन्नदोषाभ्रकलङ्कलेपः) जिनका रागादि दोष रूप मेघकलंक का आवरण नष्ट हो गया है, (व्याकोश-वाङ्-न्याय-मयूखमालः) जो अत्यन्त स्पष्ट वचनों के न्यायरूप किरणों की माला से युक्त हैं तथा (पवित्रः) कर्ममल से रहित होने के कारण जो अत्यन्त विशुद्ध हैं, (सः भगवान्) वे चन्द्रप्रभ भगवान् (मे) मेरे (मनः) मन को (पूयात्) पवित्र करें ।

## श्री सुविधिजिनस्तवनम्

आगे सुविधि जिनेन्द्र ने जो उपदेश दिया है उसे दूसरे नहीं प्राप्त कर सके हैं, यह कहते हैं—

एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्त्वं प्रमाणसिद्धं तदतत्स्वभावम् ।

त्वया प्रणीतं सुविधे! स्वधाम्ना नैतत्समालीढपदं त्वदन्यैः ॥१॥

अन्वयार्थ—(सुविधे) हे सुविधिनाथ भगवन्! (त्वया) आपके द्वारा (स्वधाम्ना) अपने ज्ञानरूप तेज से (प्रणीतं) प्रतिपादित (तत्त्वं) जीवादि पदार्थ (एकान्तदृष्टि-प्रतिषेधि) एकान्त दर्शन का निषेध करने वाला है,



(प्रमाण-सिद्धं) प्रत्यक्षादि-प्रमाणों से सिद्ध है तथा (तदतत्त्वभावम्) तत् और अतत् स्वभाव को लिए है अर्थात् विधि निषेध रूप है। हे भगवन् (एतत्) यह तत्त्व (त्वदन्यैः) आपसे भिन्न सुगत आदि के द्वारा (समालीढपदं न) अनुभूत स्थान वाला नहीं है—सुगतादि के द्वारा ऐसा तत्त्व प्रतिपादित नहीं हो सका है।

इस प्रकार तत्त्व की विधि-निषेधकता को युक्ति द्वारा सिद्ध करते हैं—

तदेव च स्यान्न तदेव च स्यात् तथा-प्रतीतेस्तव तत्कथञ्चित्।

नात्यन्तमन्यत्वमनन्यता च विधेर्निषेधस्य च शून्यदोषात् ॥२॥

अन्वयार्थ—हे सुविधिजिनेन्द्र! (तव) आपका (तत्) वह तत्त्व (कथञ्चित्) किसी अपेक्षा से (तदेव च स्यात्) तद्रूप ही है (च) और (कथञ्चित्) किसी अपेक्षा से (तदेव न स्यात्) तद्रूप नहीं है, क्योंकि (तथा-प्रतीतेः) उस प्रकार की प्रतीति होती है। (विधेः) विधि (च) और (निषेधस्य) निषेध में (अत्यन्तं) सर्वथा (न अन्यत्वम्) न भिन्नता है (च) और (अनन्यता) न अभिन्नता है, क्योंकि ऐसा मानने से (शून्य-दोषात्) शून्यता का दोष आता है।

अब पदार्थ की नित्यानित्यात्मकता दिखलाते हैं—

नित्यं तदेवेदमिति प्रतीते-र्न नित्यमन्यत्प्रतिपत्तिसिद्धेः।

न तद्विरुद्धं बहिरन्तरङ्गनिमित्तनैमित्तिकयोगतस्ते ॥३॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (इदं तदेव) यह वही है (इति) इस प्रकार (प्रतीतेः) प्रतीति होने से तत्त्व (नित्यं) नित्य है और (अन्यत्प्रतिपत्ति-सिद्धेः) यह अन्य है, इस प्रकार प्रतीति होने से (नित्यं न) नित्य नहीं है तथा (ते) आपके मत में (बहिरन्तरङ्गनिमित्त-नैमित्तिकयोगतः) बहिरंग-अन्तरंग कारण और कार्य के योग से (तद्) वह नित्यानित्यात्मक तत्त्व (विरुद्धं न) विरुद्ध भी नहीं है।

आगे आगम से भी वस्तु की अनेकान्तात्मकता दिखलाते हैं—

अनेक-मेकं च पदस्य वाच्यं वृक्षा इति प्रत्ययवत्प्रकृत्या।

आकाङ्क्षिणः स्यादिति वै निपातो गुणानपेक्षेऽनियमेऽपवादः ॥४॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (पदस्य) सुबन्त-तिङन्त रूप शब्द का (वाच्यं) अभिधेय-प्रतिपाद्य विषय (प्रकृत्या) स्वभाव से ही (वृक्षा इति प्रत्ययवत्) वृक्ष इस ज्ञान की तरह (अनेकं) अनेक (च) और (एकं) एक दोनों रूप होता है। (आकाङ्क्षिणः) विरोधी धर्म के प्रतिपादन की इच्छा रखने वाले पुरुष के

(स्यात् इति निपातः) कथंचित् अर्थ का प्रतिपादक स्यात् यह शब्द (गुणानपेक्षे) गौण अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले (अनियमे) सर्वथा एकान्तरूप कथन में (वै) निश्चय से (अपवादः) बाधक है।

इस प्रकार पद के अभिधेय का स्वरूप कहकर, अब वाक्य के अभिधेय का स्वरूप कहते हैं—

गुणप्रधानार्थमिदं हि वाक्यं जिनस्य ते तद् द्विषतामपथ्यम्।

ततोऽभिवन्द्यं जगदीश्वराणां ममापि साधोस्तव पादपद्मम् ॥५॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (जिनस्य) कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वाले (ते) आपका (इदम्) यह जो (गुणप्रधानार्थम्) गौण और प्रधान अर्थ से युक्त (वाक्यं) वाक्य है। (तद्) वह (हि) निश्चय से (द्विषताम्) द्वेष रखने वाले सर्वथा एकान्तवादियों के लिए (अपथ्यं) अनिष्ट है, (ततः) इसलिए (साधोः) समस्त कर्मों का क्षय करने के लिए प्रयत्नशील (तव) आपके (पादपद्मं) चरण-कमल (जगदीश्वराणां) तीनों जगत् के स्वामी इन्द्र, चक्रवर्ती तथा धरणेन्द्र के और (ममापि) मुझ समन्तभद्र के भी (अभिवन्द्यं) वन्दनीय हैं।

### श्री शीतलजिनस्तवनम्

अब भगवान् के वचनों की शीतलता का वर्णन करते हैं—

न शीतलाश्चन्दनचन्द्ररश्मयो न गाङ्गाम्भो न च हारयष्टयः।

यथा मुनेस्तेऽनघवाक्यरश्मयः शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम् ॥१॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (मुनेः ते) चराचर को प्रत्यक्ष जानने वाले आप शीतल जिनेन्द्र की (शमाम्बुगर्भाः) शान्तिरूप जल से मिश्रित (अनघवाक्य-रश्मयः) निर्दोष वचनरूप किरणें (विपश्चितां) हेयोपादेय तत्त्व को जानने वाले विद्वानों के लिए (यथा) जिस प्रकार (शिशिराः) शीतल हैं—संसार संताप को नष्ट कर शान्ति पहुँचाने वाली हैं तथा उस प्रकार (चन्दन-चन्द्ररश्मयः) चन्दन और चन्द्रमा की किरणें, (गाङ्गाम्भः) गंगा नदी का जल (च) और (हारयष्टयो न शीतलाः) मोतियों की मालाएँ शीतल नहीं हैं।

आगे जिन भगवान् के वचन शीतल हैं, उन्होंने क्या किया ? यह बतलाते हैं—

सुखाभिलाषानलदाहमूर्च्छितं मनो निजं ज्ञानमयामृताम्बुभिः।

व्यदिध्यपस्त्वं विषदाहमोहितं यथा भिषगमन्त्रगुणैः स्वविग्रहम् ॥२॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (विषदाहमोहितं) विषरूपी दाह से मूर्च्छित (स्वविग्रहं) अपने शरीर को (भिषक्) वैद्य (मन्त्रगुणैः) मन्त्र के गुणों के द्वारा शान्त करता है। उसी प्रकार हे भगवन्! (त्वं) आपने (सुखाभिलाषानलदाहमूर्च्छितं) वैषयिक सुखों की अभिलाषारूप अग्नि की दाह से मूर्च्छित (निजं) अपने (मनः) मन को (ज्ञानमयामृताम्बुभिः) ज्ञानामृतरूप जल के द्वारा (व्यदिध्यपः) शान्त किया था।

आगे विशुद्धता के मार्ग में आप ही जागृत-सावधान रहे, यह कहते हैं—

स्वजीविते कामसुखे च तृष्णया दिवा श्रमार्त्ता निशि शेरते प्रजाः।

त्वमार्य! नक्तं दिवमप्रमत्तवानजागरेवात्मविशुद्धवर्त्मनि ॥३॥

अन्वयार्थ—(प्रजाः) लौकिकजन (स्वजीविते) अपने जीवन (च) और (कामसुखे) स्त्री आदि की अभिलाषा से उत्पन्न काम-सुख की (तृष्णया) तृष्णा से (दिवा) दिन में (श्रमार्त्ताः) सेवा-कृषि आदि के श्रम से दुखी रहते हैं और (निशि) रात्रि में (शेरते) सो जाते हैं, परन्तु (हे आर्य) हे पूज्य शीतलजिनेन्द्र! (त्वम्) आप (नक्तं दिवम्) रात-दिन (अप्रमत्तवान्) प्रमाद रहित हो, (आत्मविशुद्धवर्त्मनि) आत्मा को अत्यन्त शुद्ध करने वाले सम्यग्दर्शनादिरूप मार्ग में (अजागः एव) जागते ही रहे हैं।

आगे अन्य प्राणियों और आपकी प्रवृत्ति में विशेषता बतलाते हैं—

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते।

भवान्पुनर्जन्मजराजिहासया त्रयीं प्रवृत्तिं समधीरवारुणत् ॥४॥

अन्वयार्थ—(केचन) कितने ही (तपस्विनः) दयनीय प्राणी अथवा व्रतीजन (अपत्यवित्तोत्तर-लोकतृष्णया) सन्तान, धन तथा उत्तरलोक-परलोक या उत्कृष्ट लोक की तृष्णा से (कर्म) अग्निहोम आदि कार्य (कुर्वते) करते हैं, (पुनः) किन्तु (भवान्) आपने (समधीः) समबुद्धि होकर (जन्मजरा-जिहासया) जन्म और जरा को छोड़ने की इच्छा से (त्रयीं प्रवृत्तिं) मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को (अवारुणत्) रोका है अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप भेद रत्नत्रय को दूरकर, शुद्ध आत्मस्वरूप की लीनता रूप अभेद रत्नत्रय को अंगीकृत किया है।

आगे हरिहरादिक भी आपके तुल्य हैं, ऐसी आशंका कर उसका समाधान करते हैं—

त्वमुत्तमज्योतिरजः क्व निर्वृतः क्व ते परे बुद्धिलवोद्धवक्षताः ।

ततः स्वनिःश्रेयसभावनापरैर्बुधप्रवेकैर्जिन! शीतलेड्यसे ॥५॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे शीतलजिनेन्द्र! (उत्तमज्योतिः) केवलज्ञानरूप उत्कृष्ट ज्योति से सहित (अजः) पुनर्जन्म से रहित और (निर्वृतः) सुखीभूत (त्वम्) आप (क्व) कहाँ और (बुद्धिलवोद्धवक्षताः) ज्ञान के लेशमात्र से उत्पन्न गर्व से नष्ट (ते परे) वे हरि-हर-हिरण्यगर्भ आदि अन्य देवता (क्व) कहाँ ? दोनों में महान् अन्तर है, (ततः) इसीलिए (स्वनिःश्रेयस-भावनापरैः) आत्मकल्याण की भावना में तत्पर (बुधप्रवेकैः) श्रेष्ठ विद्वानों—गणधरादिक, श्रेष्ठ ज्ञानियों के द्वारा (ईड्यसे) आप स्तुत हो रहे हैं—आपकी स्तुति की जा रही है।

### श्री श्रेयोजिनस्तवनम्

आगे भगवान् के 'श्रेयस्' इस नाम की सार्थकता बतलाते हैं—

श्रेयान् जिनः श्रेयसि वर्त्मनीमाः श्रेयः प्रजाः शासदजेयवाक्यः ।

भवांश्चकासे भुवनत्रयेऽस्मिन्नेको यथा वीतघनो विवस्वान्॥१॥

अन्वयार्थ—(अजेयवाक्यः) अबाधित वचनों से युक्त (श्रेयान् जिनः) हे श्रेयोजिन! (इमाः प्रजाः) इन संसारीजनों को (श्रेयसि वर्त्मनि) कल्याणकारी मोक्षमार्ग में (श्रेयः शासत्) हित का उपदेश देते हुए (भवान्) आप (अस्मिन् भुवनत्रये) इन तीनों लोकों में (एकः) अकेले ही (वीतघनः) मेघों के आवरण से रहित (विवस्वान् यथा) सूर्य के समान (चकासे) प्रकाशमान हुए हैं।

आगे विधि और निषेध की मुख्यता तथा गौणता का प्रतिपादन करते हैं—

विधिर्विषक्तप्रतिषेधरूपः प्रमाणमत्रान्यतरत्प्रधानम् ।

गुणोऽपरो मुख्यनियामहेतुर्नयः स दृष्टान्तसमर्थनस्ते ॥२॥

अन्वयार्थ—हे श्रेयोजिन! (ते) आपके मत में (विषक्तप्रतिषेधरूपः) कथञ्चित् परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तित्वरूप भी तादात्म्यसम्बन्ध से सम्बद्ध है ऐसा (विधिः) स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तित्व (प्रमाणं) प्रमाण का विषय है। (अत्र) इन विधि और प्रतिषेध में (अन्यतरत्) एक (प्रधानम्) प्रधान है और (अपरः) दूसरा (गुणः) अप्रधान है। यहाँ (मुख्यनियामहेतुः) मुख्य के नियम का जो हेतु है (नयः) वह नय है तथा (सः) वह नय (दृष्टान्तसमर्थनः) दृष्टान्त का समर्थन करने वाला है।

अब मुख्य कौन है तथा गौण कौन है ? यह बताते हैं—

विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते ।

तथारिमित्रानुभयादिशक्तिर्द्वयावधिः कार्यकरं हि वस्तु ॥३॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (ते) आपके मत में (विवक्षितः) विवक्षित पदार्थ (मुख्य इतीष्यते) मुख्य कहलाता है और (अन्यः) दूसरा—अविवक्षित पदार्थ (गुणः) गौण कहलाता है। (अविवक्षः) जो पदार्थ अविवक्षित है, वह (निरात्मकः न) अभावरूप नहीं है (तथा) मुख्य और गौण की इस विधि से (वस्तु) पदार्थ (अरिमित्रानुभयादि-शक्तिः) शत्रु, मित्र और अनुभय आदि शक्तियों से युक्त होता है। (हि) निश्चय से समस्त पदार्थों की (द्वयावधिः) भाव-अभाव अथवा द्रव्य और पर्यायरूप मर्यादा है और उसी मर्यादा का आश्रय कर वस्तु (कार्यकरं) कार्यकारी होती है।

आगे दृष्टान्त की उपयोगिता सिद्ध करते हैं—

दृष्टान्तसिद्धावुभयोर्विवादे साध्यं प्रसिद्धयेन तु तादृगस्ति ।

यत्सर्वथैकान्तनियामि दृष्टं त्वदीयदृष्टिर्विभवत्यशेषे ॥४॥

अन्वयार्थ—(उभयोः) वादी और प्रतिवादी के (विवादे) विवाद में (दृष्टान्त-सिद्धौ) उदाहरण की सिद्धि होने पर (साध्यं) साध्य (प्रसिद्धयेत्) अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है, (तु) परन्तु (तादृक् न दृष्टं अस्ति) वैसी दृष्टान्तभूत कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं है (यत्) जो (सर्वथैकान्तनियामि) सर्वथा एकान्तवाद का नियमन करने वाली हो, क्योंकि (त्वदीयदृष्टिः) आपका अनेकान्तमत (अशेषे) समस्त—साध्य, साधन और दृष्टान्त में (विभवति) अपना प्रभाव डाले हुए है।

अब एकान्त का निषेध और अनेकान्त की सिद्धि किससे होती है? यह बतलाते हैं—

एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धिन्यायेषुभिर्मोहरिपुं निरस्य ।

असि स्म कैवल्यविभूतिसम्राट् ततस्त्वमर्हन्नसि मे स्तवार्हः ॥५॥

अन्वयार्थ—हे श्रेयोजिनेन्द्र! (एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धिः) एकान्त दृष्टि के निषेध की सिद्धि (न्यायेषुभिः) न्यायरूप बाणों के द्वारा होती है अर्थात् आपने न्याय रूप बाणों के द्वारा सर्वथा एकान्तवादियों का निराकरण कर उन पर विजय प्राप्त की है और (यतः) जिस कारण आप (मोहरिपुं) अज्ञानरूपी शत्रु अथवा मोहनीयकर्म से युक्त ज्ञानावरणादि घातियाकर्मों को (निरस्य) नष्टकर

(कैवल्यविभूतिसम्राट्) केवलज्ञानरूप विभूति अथवा समवसरणादि-रूप लक्ष्मी के सम्राट् (असि स्म) हुए हैं (ततः) इस कारण (अर्हन्) हे अर्हन्त! (त्वम्) आप (मे) मेरे (स्तवार्हः) स्तवन के योग्य (असि) हैं अर्थात् मैं आपकी स्तुति करता हूँ।

## श्री वासुपूज्यजिनस्तवनम्

मुझ अल्पबुद्धि के द्वारा भगवान् वासुपूज्य की पूजा-विधि का विधान करते हैं—  
शिवासु पूज्योऽभ्युदयक्रियासु त्वं वासुपूज्यस्त्रिदशेन्द्रपूज्यः।

मयापि पूज्योऽल्पधिया मुनीन्द्र! दीपार्चिषा किं तपनो न पूज्यः ॥१॥

अन्वयार्थ—(हे मुनीन्द्र!) हे गणधरादि मुनियों के स्वामी! (शिवासु) कल्याणकारिणी (अभ्युदयक्रियासु) स्वर्गावतरण आदि कल्याणकों की क्रियाओं में (पूज्यः) पूज्य, (वासुपूज्यः) वासुपूज्य नाम को धारण करने वाले (त्वम्) आप चूँकि (त्रिदशेन्द्रपूज्यः) इन्द्र तथा चक्रवर्ती आदि के द्वारा पूज्य हैं, अतः (अल्पधिया) अल्पबुद्धि के धारक (मयापि) मुझ समन्तभद्र के द्वारा भी (पूज्यः) पूज्य हैं। (किं) क्या (दीपार्चिषा) दीपशिखा के द्वारा (तपनः) सूर्य (न पूज्यः) पूजनीय नहीं होता ?

आपकी पूजा से आपको क्या प्रयोजन है ? यह कहते हैं—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ! विवान्तवैरे।

तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥२॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हे स्वामिन्! यद्यपि (वीतरागे) राग से रहित (त्वयि) आप में (पूजया) पूजा के द्वारा (न) प्रयोजन नहीं है और (विवान्तवैरे) वैर से रहित आप में (निन्दया) निन्दा के द्वारा (अर्थः न) प्रयोजन नहीं है। (तथापि) तो भी (ते) आपके (पुण्यगुणस्मृतिः) प्रशस्त गुणों का स्मरण (नः) हमारे (चित्तं) मन को (दुरिताञ्जनेभ्यः) पापरूपी अञ्जन से (पुनातु) पवित्र करे—दूर रखे।

पूजा में होने वाली अल्पहिंसा दोष का कारण नहीं है, यह कहते हैं—

पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ।

दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ ॥३॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (पूज्यं) इन्द्र आदि के द्वारा पूजनीय तथा (जिनं) कर्म रूप शत्रुओं को जीतने वाले (त्वा) आपकी (अर्चयतः) पूजा करने वाले (जनस्य) मनुष्य के जो (सावद्यलेशः) सराग परिणति अथवा आरम्भादि-

जनित थोड़ा-सा पाप का लेश होता है, वह (बहुपुण्यराशौ) बहुत भारी पुण्य की राशि में (दोषाय) दोष के लिए (अलं न) समर्थ नहीं है, क्योंकि (विषस्य) विष की (कणिका) अल्पमात्रा (शीतशिवाम्बुराशौ) शीतल एवं आह्लादकारी जल से युक्त समुद्र में (दूषिका न) दोष उत्पन्न करने वाली नहीं है।

पुष्पादि बाह्य सामग्री के बिना भी मुनि के पूजा संभव है, यह कहते हैं—

यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूते - निर्मित्तमभ्यन्तरमूलहेतोः।

अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूतमभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते ॥४॥

अन्वयार्थ—(यद् वस्तु) जो पुष्पादिक पदार्थ (गुणदोषसूतेः) पुण्य और पाप की उत्पत्ति के (बाह्यं) बहिरंग (निमित्तं) कारण हैं (तद्) वह (अध्यात्म-वृत्तस्य) आत्मा में प्रवर्तने वाले (अभ्यन्तरमूलहेतोः) अन्तरंग/उपादानरूप मूलकारण का (अङ्गभूतं) सहकारी कारण है। हे भगवन्! (ते) आपके मत में (अभ्यन्तरं) अन्तरंग कारण (केवलमपि) बाह्य वस्तु से निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों ही प्रकार का (अलं) गुण-दोष की उत्पत्ति में समर्थ है।

बाह्य और आभ्यन्तर सामग्री से ही कार्य की उत्पत्ति होती है, यह कहते हैं—

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।

नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ॥५॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (कार्येषु) घट आदि कार्यों में (इयं) यह जो (बाह्ये-तरोपाधिसमग्रता) बाह्य और आभ्यन्तर कारणों की पूर्णता है, वह (ते) आपके मत में (द्रव्यगतः) जीवादि द्रव्यगत (स्वभावः) स्वभाव है। (अन्यथा) अन्य प्रकार से घटादि की विधि ही नहीं, किन्तु (पुंसां) मोक्षाभिलाषी पुरुषों के (मोक्षविधिश्च) मोक्ष की विधि भी (नैव) घटित नहीं होती है, (तेन) इसीलिए (ऋषिः) परम ऋषियों से युक्त (त्वम्) आप (बुधानां) गणधरादि बुधजनों के (अभिवन्द्यः) वन्दनीय हैं।

### श्री विमलजिनस्तवनम्

आगे निरपेक्ष नय मिथ्या हैं, यह कहते हैं—

य एव नित्यक्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षाः स्वपरप्रणाशिनः।

त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परपेक्षाः स्वपरोपकारिणः ॥१॥

अन्वयार्थ—(य एव) जो ही (नित्यक्षणिकादयः नयाः) नित्य अथवा

क्षणिक आदि नय (मिथोऽनपेक्षाः) परस्पर में निरपेक्ष होकर अन्यमतों में (स्वपर-प्रणाशिनः) निज और पर का नाश करने वाले हैं, (ते एव) वे ही नय (परस्परपेक्षाः) परस्पर की अपेक्षा रखते हुए (स्वपरोप-कारिणः) निज और पर का उपकार करने वाले होकर (मुनेः) प्रत्यक्षज्ञानी (ते) आप (विमलस्य) विमल जिनेन्द्र के मत में (तत्त्वं) वस्तु स्वरूप होते हैं।

आगे नयों में प्रतिनियत व्यवस्था का विधान करते हैं—

यथैकशः कारकमर्थसिद्धये समीक्ष्य शेषं स्वसहायकारकम्।

तथैव सामान्यविशेषमातृका नयास्तवेष्टा गुणमुख्यकल्पतः ॥२॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (एकशः) एक-एक (कारकम्) उपादान-कारण या निमित्तकारण (स्वसहायकारकं) अपनी सहायता करने वाले (शेषं) अन्य कारक की (समीक्ष्य) अच्छी तरह अपेक्षा करके (अर्थसिद्धये) कार्य की सिद्धि के लिए समर्थ होता है। (तथैव) उसी प्रकार (सामान्य-विशेषमातृका) सामान्य और विशेष से उत्पन्न अथवा सामान्य और विशेष को जानने वाले एवं (गुणमुख्यकल्पतः) गौण और मुख्य की कल्पना से (तव) आपके (इष्टाः) अभिप्रेत (नयाः) नय (अर्थसिद्धये) कार्य की सिद्धि के लिए समर्थ हैं।

आगे नयों की सामान्यविशेषमातृकता सिद्ध करते हैं—

परस्परैक्षान्वयभेदलिङ्गतः प्रसिद्धसामान्यविशेषयोस्तव।

समग्रतास्ति स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम् ॥३॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (यथा) जिस प्रकार (भुवि) पृथ्वी पर (स्वपराव-भासकं) स्व और पर को प्रकाशित करने वाला (बुद्धिलक्षणं) ज्ञानरूप लक्षण से युक्त (प्रमाणं) प्रमाण प्रसिद्ध है। (तथा) उसी प्रकार (तव) आपके मत में (परस्परैक्षान्वयभेदलिङ्गतः) परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा रखने वाले अभेद और भेद के ज्ञान से (प्रसिद्धसामान्यविशेषयोः) प्रसिद्ध सामान्य और विशेष की (समग्रता) पूर्णता (अस्ति) विद्यमान है।

अब विशेष्य और विशेषण का स्वरूप बतलाते हैं—

विशेष्यवाच्यस्य विशेषणं वचो यतो विशेष्यं विनियम्यते च यत्।

तयोश्च सामान्यमतिप्रसज्यते विवक्षितात्स्यादिति तेऽन्यवर्जनम् ॥४॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (विशेष्यवाच्यस्य) वाच्यभूत विशेष का वह (वचः)



वचन (यतः) जिससे (विशेष्यं) विशेष्य (विनियम्यते) नियमित किया जाता है (विशेषणं) विशेषण कहलाता है और (यत्) जो (विनियम्यते) नियमित होता है (तत्) वह (विशेष्यं) विशेष्य कहलाता है (च) और (तयोः) उन विशेषण और विशेष्य में यद्यपि (सामान्य-मतिप्रसज्यते) सामान्य का प्रसंग आता है, परन्तु (ते) आपके मत में (स्यादिति) कथञ्चित् अर्थ के वाचक स्यात् पद के द्वारा (विवक्षितात्) विवक्षित विशेषण विशेष्य से (अन्य-वर्जनम्) अविवक्षित विशेषण विशेष्य का परिहार हो जाता है।

आगे स्यात् शब्द का फल दिखलाते हुए कहते हैं—

नयास्तव स्यात्पदसत्यलाञ्छिता रसोपविद्धा इव लोहधातवः।

भवन्त्यभिप्रेतगुणा यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ॥५॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (यतः) चूँकि (स्यात्पदसत्यलाञ्छिताः) स्यात् पद रूपी सत्य से चिह्नित (तव) आपके (नयाः) नय (रसोपविद्धाः) रस से अनुलिप्त (लोहधातवः इव) लोह धातुओं के समान (अभिप्रेतगुणाः) इष्ट गुणों से युक्त पक्ष में सुवर्ण आदि इष्ट पदार्थ के गुणों से युक्त (भवन्ति) होते हैं, (ततः) इसलिए (हितैषिणः) हित के इच्छुक (आर्याः) गणधर आदि उत्तम पुरुष (भवन्तं) आपके प्रति (प्रणताः) नम्रीभूत हैं।

### श्री अनन्तजिनस्तवनम्

भगवान् के अनन्तजित् नाम की सार्थकता बतलाते हैं—

अनन्तदोषाशयविग्रहो ग्रहो विषङ्गवान्मोहमयश्चिरं हृदि।

यतो जितस्तत्त्वरुचौ प्रसीदता त्वया ततोऽभूर्भगवाननन्तजित् ॥१॥

अन्वयार्थ—(अनन्तदोषाशयविग्रहः) जिसका शरीर अनन्त रगादि दोषों का आधार है तथा जो (चिरं) चिरकाल से (हृदि) हृदय में (विषङ्गवान्) संलग्न था अथवा ममता भाव से सहित था, ऐसा (मोहमयः) मोहरूप (ग्रहः) पिशाच (तत्त्व-रुचौ) तत्त्व श्रद्धा से (प्रसीदता) प्रसन्न रहने वाले (त्वया) आपके द्वारा, (यतः) क्योंकि (जितः) जीत लिया था, (ततः) इसलिए आप (भगवान्) भगवान् (अनन्त-जित्) अनन्तजित् इस सार्थक नाम को धारण करने वाले (अभूः) हुए हैं।

आगे कषाय रूप शत्रुओं को जीतकर आप सर्वज्ञ हुए, यह कहते हैं—

कषायनाम्नां द्विषतां प्रमाथिनामशेषयन्नाम भवानशेषवित्।

विशोषणं मन्मथदुर्मदामयं समाधिभैषज्यगुणैर्व्यलीनयत् ॥२॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (भवान्) आप (प्रमाथिनाम्) दुख देने वाले (कषायनाम्नां द्विषताम्) कषाय नामक शत्रुओं के (नाम्) नाम को हृदय में (अशेषयन्) समाप्त करते हुए (अशेषवित्) सर्वज्ञ हुए हैं तथा आपने (समाधिभैषज्यगुणैः) ध्यानरूप औषधि के गुणों के द्वारा (विशोषणं) संतापकारक (मन्मथदुर्मदामयं) कामदेव के दुष्ट दर्परूपी रोग को (व्यलीनयत्) विलीन किया है—नष्ट किया है।

आगे आपको निर्वाणधाम की प्राप्ति किस तरह हुई? यह कहते हैं—

परिश्रमाम्बुर्भयवीचिमालिनी त्वया स्वतृष्णासरिदार्य! शोषिता।

असङ्घर्माकं-गभस्तितेजसा परं ततो निर्वृतिधाम तावकम् ॥३॥

अन्वयार्थ—(परिश्रमाम्बुः) जिसमें परिश्रमरूपी जल भरा है और (भयवीचि-मालिनी) भयरूप तरंगों की मालाएँ उठ रही हैं, ऐसी (स्वतृष्णा-सरित्) अपनी भोगाकांक्षारूप नदी (हे आर्य) हे पूज्य (त्वया) आपके द्वारा (असङ्घ-घर्माकं गभस्ति-तेजसा) निष्परिग्रहत्वरूप ग्रीष्मकालीन सूर्य की किरणों के तेज से (शोषिता) सुखा दी गई है, (ततः) इसलिए (परम्) उसके आगे विद्यमान (निर्वृतिधाम) निर्वाण-स्थान (तावकम्) आपका ही है अथवा आपका अनन्तज्ञानादि तेज अत्यन्त उत्कृष्ट है।

अब भगवान् की वीतरागता का प्रतिपादन करते हैं—

सुहृत्त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते द्विषंस्त्वयि प्रत्ययवत्प्रलीयते।

भवानुदासीनतमस्तयोरपि प्रभो परं चित्रमिदं तवेहितम् ॥४॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (त्वयि सुहृद्) आप में उत्तम हृदय को रखने वाला-भक्त पुरुष (श्रीसुभगत्वं) लक्ष्मी के वल्लभपने को (अश्नुते) प्राप्त होता है और (त्वयि द्विषन्) आपमें द्वेष रखने वाला-अभक्त पुरुष (प्रत्ययवत्) व्याकरण के प्रसिद्ध क्विप् आदि प्रत्ययों अथवा क्षायोपशमिक ज्ञान के समान (प्रलीयते) नष्ट हो जाता है—चतुर्गति के दुखों का अनुभव करता है, परन्तु (भवान्) आप (तयोरपि) उन दोनों-भक्त और अभक्त पुरुषों के विषय में (उदासीन-तमः) अत्यन्त उदासीन हैं—रागद्वेष से रहित हैं। (प्रभो) हे स्वामिन्! (तव) आपकी (इदम् ईहितं) यह चेष्टा (परं चित्रम्) अत्यन्त

आश्चर्यकारी है।

अब भगवान् का अल्प गुण वर्णन भी कल्याण का कारण है, यह कहते हैं—  
त्वमीदृशस्तादृश इत्ययं मम प्रलापलेशोऽल्पमतेर्महामुने।

अशेषमाहात्म्यमनीरयन्नपि शिवाय संस्पर्श इवामृताम्बुधेः ॥५॥

अन्वयार्थ—(महामुने!) हे समस्त पदार्थों के प्रत्यक्ष जानने वाले मुनिनाथ! (त्वम्) आप (ईदृशः) ऐसे हैं, (तादृशः) वैसे हैं, (इति) इस प्रकार का (अयं) यह (मम अल्पमतेः) मुझ अल्पबुद्धि का (प्रलापलेशः) थोड़ा-सा प्रलाप (अशेषमाहात्म्यं) आपकी समस्त महिमा को (अनीरयन्नपि) न कहता हुआ भी (अमृताम्बुधेः) सुधासागर के (संस्पर्श इव) समीचीन स्पर्श के समान (शिवाय) मोक्ष के लिए है—मोक्षसुख की प्राप्ति का कारण है।

### श्री धर्म जिनस्तवनम्

भगवान् धर्मनाथ नाम की सार्थकता बताते हैं—

धर्मतीर्थमनघं प्रवर्तयन् धर्म इत्यनुमतः सतां भवान्।

कर्मकक्षमदहत्तपोऽग्निभिः शर्म शाश्वतमवाप शङ्करः॥१॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (अनघं) निर्दोष (धर्मतीर्थं) धर्मरूपी तीर्थ अथवा धर्म का प्रतिपादन करने वाले आगम को (प्रवर्तयन्) प्रवर्तिते हुए, (भवान्) आप (सतां) गणधरदेवादि विद्वानों के द्वारा (धर्मः) धर्म (इति) इस सार्थक नाम से युक्त (अनुमतः) माने गये हैं। आपने (तपोऽग्निभिः) तप रूपी अग्नियों के द्वारा (कर्मकक्षम्) कर्मरूपी वन को (अदहत्) जलाया है तथा (शाश्वतं) अविनाशी (शर्म) सुख (अवाप) प्राप्त किया है, इसलिए आप सत्पुरुषों के द्वारा (शङ्करः) शंकर इस नाम से युक्त (अनुमतः) माने गये हैं।

अब ऐसे भगवान् ने क्या किया? यह कहते हैं—

देवमानवनिकायसत्तमै रेजिषे परिवृतो वृतो बुधैः।

तारकापरिवृतोऽतिपुष्कलो व्योमनीव शशलाञ्छनोऽमलः ॥२॥

अन्वयार्थ—हे धर्मजिन! (देवमानवनिकायसत्तमैः) देवसमूह और मनुष्य-समूह में अत्यन्त श्रेष्ठ भव्यजीवों के द्वारा (परिवृतः) चारों ओर से वेष्टित तथा (बुधैः) गणधरादि विद्वानों से (वृतः) घिरे हुए आप (व्योमनि) आकाश में (तारकापरिवृतः) ताराओं से परिवेष्टित (अमलः) घनपटलादि मल से रहित, (अतिपुष्कलः) सम्पूर्ण (शशलाञ्छन इव) चन्द्रमा के समान (रेजिषे)

सुशोभित हुए थे।

अब सिंहासनादि विभूति के रहते हुए भी भगवान् के वीतरागता है, यह दिखाते हैं—

**प्रातिहार्यविभवैः परिष्कृतो देहतोऽपि विरतो भवानभूत्।**

**मोक्षमार्गमशिषन्नरामरान् नापि शासनफलैषणातुरः ॥३॥**

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (भवान्) आप (प्रातिहार्यविभवैः) सिंहासनादि प्रातिहार्यों तथा समवसरणादि विभूतियों से (परिष्कृतः) विभूषित होते हुए भी न केवल उनसे, किन्तु (देहतोऽपि) शरीर से भी (विरतः) ममत्व रहित (अभूत्) थे तथा आपने (नरामरान्) मनुष्यों और देवों को (मोक्षमार्गम्) मोक्षमार्ग का (अशिषत्) उपदेश दिया था फिर भी आप (शासन-फलैषणातुरः) उपदेश के फल की इच्छा से आतुर-व्यग्र (नापि) नहीं हुए थे।

अब इच्छा के बिना भगवान् का विहार आदि होता है, यह कहते हैं—

**कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो नाभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया।**

**नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो धीर! तावकमचिन्त्यमीहितम् ॥४॥**

अन्वयार्थ—हे नाथ! (तव) आप (मुनेः) प्रत्यक्षज्ञानी के (काय-वाक्य-मनसां) काय, वचन और मन की (प्रवृत्तयः) चेष्टाएँ (चिकीर्षया) करने की इच्छा से (न अभवन्) नहीं हुई तथा (भवतः) आपकी (प्रवृत्तयः) प्रवृत्तियाँ—चेष्टाएँ (असमीक्ष्य) वस्तुस्वरूप को ज्यों का त्यों जाने बिना (न) नहीं हुई। (हे धीर) परीषहादिक तथा अन्यमतावलम्बियों के प्रश्न आदि से चित्त को क्षुभित न करने वाले, हे धीर-वीर धर्मजिनेन्द्र! (तावकं) आपका (ईहितं) चरित (अचिन्त्यं) अचिन्तनीय है—आश्चर्य करने वाला है।

आगे भगवान् की लोकोत्तर प्रकृति का वर्णन करते हैं—

**मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः।**

**तेन नाथ! परमासि देवता श्रेयसे जिनवृष! प्रसीद नः ॥५॥**

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (यतः) चूँकि आप (मानुषीं प्रकृतिं) मानव स्वभाव को (अभ्यतीतवान्) अतिक्रान्त कर गये हैं (च) और (देवतास्वपि) इन्द्र, चन्द्र आदि देवों में भी (देवता) देवता हैं, पूज्य हैं, (तेन) इसलिए (हे नाथ) हे स्वामिन्! आप (परम देवता असि) उत्कृष्ट देवता हैं। (हे जिनवृष) हे जिनेन्द्र! (नः) हमारे (श्रेयसे) कल्याण के लिए (प्रसीद) प्रसन्न होईये।

## श्री शान्तिजिनस्तवनम्

भगवान् पापों की शान्ति कर स्वयं शान्तिनाथ हुए, यह कहते हैं—

विधाय रक्षां परतः प्रजानां राजा चिरं योऽप्रतिमप्रतापः।

व्यधात्पुरस्तात्स्वत एव शान्तिर्मुनिर्दयामूर्तिरिवाघशान्तिम् ॥१॥

अन्वयार्थ—(यः शान्तिः) जो शान्तिजिनेन्द्र (परतः) शत्रुओं से (प्रजानां) प्रजा-जनों की (रक्षां विधाय) रक्षा कर (चिरं) चिरकाल तक पहले (अप्रतिमप्रतापः) अतुल्य पराक्रमी (राजा) राजा हुए और (पुरस्तात्) फिर (स्वत एव) स्वयं ही (मुनिः) मुनि होकर जिन्होंने (दयामूर्तिरिव) दया की मूर्ति की तरह (अघशान्तिं) पापों की शान्ति (व्यधात्) की।

अब भगवान् के राज्य अवस्था और वीतराग अवस्था के कार्य कहते हैं—

चक्रेण यः शत्रुभयङ्क्रेण जित्वा नृपः सर्वनरेन्द्रचक्रम्।

समाधिचक्रेण पुनर्जिगाय महोदयो दुर्जयमोहचक्रम् ॥२॥

अन्वयार्थ—(महोदयः) गर्भावतरण आदि कल्याणकों की परम्परा से युक्त (यः) जो शान्ति जिनेन्द्र गृहस्थावस्था में (शत्रुभयङ्क्रेण) शत्रुओं को भय उत्पन्न करने वाले (चक्रेण) सुदर्शनचक्र के द्वारा (सर्वनरेन्द्रचक्रं) समस्त राजाओं के समूह को (जित्वा) जीतकर (नृपः) चक्रवर्ती हुए और (पुनः) पश्चात् वीतरागावस्था में जिन्होंने (समाधिचक्रेण) ध्यानरूप चक्र के द्वारा (दुर्जय-मोहचक्रं) कठिनाई से जीतने योग्य मोहनीयकर्म की मूल तथा उत्तर प्रकृतियों के समूह को (जिगाय) जीता था।

अब भगवान् की सराग और वीतराग अवस्था के कार्य कहते हैं—

राजश्रिया राजसु राजसिंहो रराज यो राजसुभोगतन्त्रः।

आर्हन्त्यलक्ष्म्या पुनरात्मतन्त्रो देवासुरोदारसभे रराज ॥३॥

अन्वयार्थ—(राजसिंहः) राजाओं में श्रेष्ठ तथा (राजसुभोगतन्त्रः) राजाओं के उत्तम भोगों के अधीन अथवा राजाओं के उत्तम भोगों को स्वाधीन रखने वाले (यः) जो शान्तिजिनेन्द्र सराग अवस्था में (राजसु) राजाओं के बीच (राजश्रिया) नौ निधि तथा चौदह रत्नों से युक्त राजलक्ष्मी के द्वारा (रराज) सुशोभित हुए थे और (पुनः) पश्चात् वीतरागावस्था में (आत्मतन्त्रः) आत्माधीन होते हुए (देवासुरोदारसभे) देव और धरणेन्द्रादिकों की महती सभा में (आर्हन्त्यलक्ष्म्या) अष्ट प्रातिहार्य रूप बाह्य तथा अनन्तज्ञानादिरूप अन्तरंग

विभूति से (राज) सुशोभित हुए थे।

सराग और वीतराग अवस्था में और क्या हुआ ? यह कहते हैं -

यस्मिन्नभूद्राजनि राजचक्रं मुनौ दयादीधिति धर्मचक्रम्।

पूज्ये मुहुः प्राञ्जलि देवचक्रं ध्यानोन्मुखे ध्वंसि कृतान्तचक्रम् ॥४॥

अन्वयार्थ—(यस्मिन्) जिन शान्तिनाथ भगवान् के (राजनि 'सति') राजा होने पर (राजचक्रं) राजाओं का समूह (प्राञ्जलि) बद्धाञ्जलि (अभूत्) हुआ था, जिन शान्तिनाथ भगवान् के (मुनौ 'सति') मुनि होने पर (दयादीधिति) दयारूप किरणों से युक्त अथवा दया को प्रकाशित करने वाला (धर्मचक्रं) उत्तमक्षमा आदि धर्मों का समूह (प्राञ्जलि अभूत्) अपने आधीन हुआ था अथवा जिन शान्तिनाथ भगवान् के (मुनौ) समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले केवलज्ञानी होने पर (दयादीधिति) दयारूप किरणों से युक्त (धर्मचक्रं) देवरचित धर्मचक्र (प्राञ्जलि अभूत्) अपने अधीन हुआ था, जिन शान्तिनाथ भगवान् के (पूज्ये) पूज्य होने पर—समवसरण में स्थित होकर धर्मोपदेश होने पर (देवचक्रं) देवों का समूह (मुहुः) बार-बार (प्राञ्जलि अभूत्) बद्धाञ्जलि हुआ था और जिन शान्तिनाथ भगवान् के (ध्यानोन्मुखे) व्युपरत-क्रियानिवर्तिनामक चतुर्थ शुक्लध्यान के सन्मुख होने पर (ध्वंसि) क्षय को प्राप्त होता हुआ (कृतान्तचक्रं) कर्मों का समूह (प्राञ्जलि) शरण की भिक्षा के लिए बद्धाञ्जलि (अभूत्) हुआ था।

आगे स्तुतिकर्ता स्तुति से फल की याचना करता हुआ कहता है—

स्वदोषशान्त्या विहितात्मशान्तिः शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम्।

भूयाद्भवक्लेशभयोपशान्त्यै शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः ॥५॥

अन्वयार्थ—(स्वदोषशान्त्या) अपने रगादि दोषों की शान्ति से (विहितात्म-शान्तिः) जिन्हें आत्मशान्ति की प्राप्ति हुई है, जो (शरणं गतानां) शरण में आये हए जीवों को (शान्तेर्विधाता) शान्ति के करने वाले हैं, जो (जिनः) कर्म रूप शत्रुओं के जीतने वाले हैं, (भगवान्) विशिष्टज्ञान अथवा लोकोत्तर ऐश्वर्य से सहित हैं तथा (शरण्यः) शरण देने में निपुण हैं वह (शान्तिः) शान्तिनाथ जिनेन्द्र (मे) मेरे (भवक्लेशभयोप-शान्त्यै) संसारपरिभ्रमण, क्लेशों और भयों की शान्ति के लिए (भूयात्) हों।

## श्री कुन्थुजिनस्तवनम्

कुन्थुप्रभृत्यखिलसत्त्वदयैकतानः कुन्थुर्जिनो ज्वरजरामरणोपशान्त्यै ।  
 त्वं धर्मचक्रमिह वर्तयसि स्म भूत्यै भूत्वा पुरा क्षितिपतीश्वरचक्रपाणिः ॥१॥  
 अन्वयार्थ—(कुन्थुप्रभृत्यखिलसत्त्वदयैकतानः) कुन्थु आदि समस्त जीवों पर एक मुख्य रूप से दया का विस्तार करने वाले (कुन्थुः जिनः) कुन्थुनाथ जिनेन्द्र थे। हे भगवन्! (त्वं) आपने (पुरा) पहले गृहस्थावस्था में (भूत्यै) राजविभूति के निमित्त (क्षितिपतीश्वर चक्रपाणिः) राजाधिराज चक्रवर्ती (भूत्वा) होकर पश्चात् (इह) इस संसार में (ज्वरजरा-मरणोपशान्त्यै) ज्वर आदि समस्त रोग, बुढ़ापा और मरण के विनाश से युक्त (भूत्यै) मोक्षलक्ष्मी के लिए (धर्मचक्रं) धर्म के समूह को अथवा देवरचित धर्मचक्र नामक अतिशय विशेष को (वर्तयसि स्म) प्रवर्तित किया था।

आगे भगवान् की राज्यसंपदा के त्याग का कारण कहते हैं—

तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासामिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव ।  
 स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्तमित्यात्मवान् विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत् ॥२॥  
 अन्वयार्थ—(तृष्णार्चिषः) विषयाकांक्षारूप अग्नि की ज्वालाएँ (परिदहन्ति) इस जीव को सब ओर से जला रही हैं, (इष्टेन्द्रियार्थविभवैः) इष्ट इन्द्रियों के विषयों से (आसां) इन विषयाकांक्षारूप अग्नि की ज्वालाओं की (न शान्तिः) शान्ति नहीं होती, किन्तु (परिवृद्धिरेव) सब ओर से वृद्धि ही होती है। यह वृद्धि (स्थित्यैव) इन्द्रिय विषयों के स्वभाव से ही होती है। (निमित्तं) निमित्त कारण (कायपरितापहरं) मात्र शरीर के संताप को हरने वाला होता है, विषयाकांक्षारूप अग्निज्वालाओं का उपशमन करने वाला नहीं होता। हे भगवन्! (इति) यह सब विचार कर ही (आत्मवान्) जितेन्द्रिय होते हुए आप (विषयसौख्यपराङ्मुखः) विषयजन्य सुख से पराङ्मुख (अभूत्) हुए हैं।

अब भगवान् के बाह्य और आभ्यन्तर तप की प्रवृत्ति का वर्णन करते हैं—

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिवृंहणार्थम् ।  
 ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरस्मिन् ध्यानद्वये ववृत्तिषेऽतिशयोपपन्ने ॥३॥  
 अन्वयार्थ—हे भगवन्! (त्वम्) आपने (आध्यात्मिकस्य) अन्तरंग (तपसः) तप की (परिवृंहणार्थम्) वृद्धि के लिए (परमदुश्चरं) अत्यन्त कठिन (बाह्यं तपः) अनशनादि बाह्यतप का (आचरन्) आचरण किया था तथा (कलुष-

द्वयं) आर्त्त-रौद्ररूप दो खोटे (ध्यानं) ध्यानों को (निरस्य) छोड़कर आप (अतिशयोपपन्ने) उत्कृष्ट अतिशय से युक्त अथवा अपने अवान्तर भेदों से सहित (उत्तरस्मिन्) आगे के (ध्यानद्वये) धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान इन दो ध्यानों में (ववृतिषे) स्थिर हुए थे।

अब ध्यान का फल कहते हैं—

हुत्वा स्वकर्मकटुकप्रकृतीश्चतस्रो रत्नत्रयातिशयतेजसि जातवीर्यः।  
बभ्राजिषे सकलवेदविधेर्विनेता व्यभ्रे यथा वियति दीप्तरुचिर्विवस्वान् ॥४॥  
अन्वयार्थ—हे भगवन्! (चतस्रः स्वकर्मकटुकप्रकृतीः) अपने कर्मों की चार कटुक प्रकृतियों को (रत्नत्रयातिशयतेजसि) सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की प्रकृष्टारूप अग्नि में (हुत्वा) होमकर (जातवीर्यः) आप सामर्थ्यवान् अनन्त-वीर्य से युक्त हुए तथा (सकलवेदविधेः) समस्त लोकालोक विषयक ज्ञान के विधायक परमागम के (विनेता) प्रणेता होकर (तथा) उस तरह (बभ्राजिषे) देदीप्यमान हुए, (यथा) जिस तरह कि (व्यभ्रे) मेघ रहित (वियति) आकाश में (दीप्तरुचिः) देदीप्यमान किरणों से युक्त (विवस्वान्) सूर्य होता है।

अब भगवान् की विशिष्टता का प्रतिपादन करते हैं—

यस्मान्मुनीन्द्र! तव लोक पितामहाद्या विद्याविभूतिकणिकामपि नाप्नुवन्ति।  
तस्माद् भवन्तमजमप्रतिमेयमार्याः स्तुत्यं स्तुवन्ति सुधियः स्वहितैकतानाः॥५॥  
अन्वयार्थ—(हे मुनीन्द्र) हे यतिनाथ! (यस्मात्) चूँकि (लोकपिता-महाद्याः) ब्रह्मा आदि लौकिक देवता (तव) आपकी (विद्याविभूति-कणिकामपि) केवलज्ञानरूप विद्या और समवसरणरूप विभूति के एक कण मात्र को भी (न आप्नुवन्ति) नहीं प्राप्त करते हैं, (तस्मात्) इसलिए (सुधियः) उत्तम बुद्धि के धारक (स्वहितैकतानाः) एक आत्महित में निमग्न—मोक्ष के अभिलाषी (आर्याः) गणधरादिदेव (अजं) जन्म से रहित, (अप्रतिमेयं) अपरिमित—अनन्त तथा (स्तुत्यं) स्तुति के योग्य (भवन्तं) आपकी (स्तुवन्ति) स्तुति करते हैं।

### श्रीअरजिनस्तवनम्

गुणों की अधिकता के कारण आपकी स्तुति शक्य नहीं है, यह कहते हैं—

गुणस्तोकं सदुल्लङ्घ्य तद्बहुत्वकथा स्तुतिः।  
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुम-शक्यास्त्वयि सा कथम् ॥१॥



अन्वयार्थ—(सद्) विद्यमान (गुणस्तोकं) अल्प गुणों का (उल्लङ्घ्य) उल्लङ्घन कर (तद्बहुत्वकथा) उन गुणों की अधिकता का कथन करना (स्तुतिः) स्तुति कहलाती है परन्तु (आनन्त्यात्) अनन्त होने के कारण (ते) आपके (गुणाः) गुण (वक्तुमशक्याः) कहने के लिए अशक्य हैं, अतः (त्वयि) आपके विषय में (सा) वह स्तुति (कथं) किस प्रकार संभव है?

यदि शक्य नहीं है तो चुप बैठो, यह कहते हैं—

तथापि ते मुनीन्द्रस्य यतो नामापि कीर्तितम्।

पुनाति पुण्यकीर्तेर्नस्ततो ब्रूयाम किञ्चन ॥२॥

अन्वयार्थ—यद्यपि आपके गुणों की स्तुति अशक्य है (तथापि) तो भी (पुण्यकीर्तेः) प्रशस्त यश वाणी अथवा ख्याति के धारक तथा (मुनीन्द्रस्य) गणधरादि मुनियों के स्वामी (ते) आपका (कीर्तितं) उच्चरित (नामापि) नाम भी (यतः) चूँकि (नः) हमें (पुनाति) पवित्र करता है, (ततः) इसलिए (किञ्चन) कुछ (ब्रूयाम) कहते हैं।

भगवान् की निःस्पृहता का वर्णन करते हैं—

लक्ष्मीविभवसर्वस्वं मुमुक्षोश्चक्र - लाञ्छनम्।

साम्राज्यं सार्वभौमं ते जरत्तृणमिवाभवत् ॥३॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (लक्ष्मीविभवसर्वस्वं) लक्ष्मी की विभूतिरूप सर्वस्व से युक्त तथा (चक्रलाञ्छनं) सुदर्शनचक्ररूप चिह्न से सहित (सार्वभौमं) समस्त पृथ्वी सम्बन्धी जो (ते) आपका (साम्राज्यं) साम्राज्य था, वह (मुमुक्षोः) मोक्ष के इच्छुक होने पर आपके लिए (जरत्तृणमिव) जीर्ण तृण के समान (अभवत्) हो गया था।

भगवान् की शारीरिक सुन्दरता का वर्णन करते हैं—

तव रूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनापिवान्।

द्व्यक्षः शक्रः सहस्राक्षो बभूव बहुविस्मयः ॥४॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (तव) आपके (रूपस्य) शरीर सम्बन्धी रूप की (सौन्दर्यं) सुन्दरता को (दृष्ट्वा) देखकर (तृप्तिं) संतोष को (अनापिवान्) प्राप्त न होने वाला (द्व्यक्षः) दो नेत्रों का धारक (शक्रः) इन्द्र (बहुविस्मयः) बहुत भारी आश्चर्य से युक्त (सहस्राक्षः) एक हजार नेत्रों का धारक (बभूव) हुआ था।

आगे आपने मोहरूपी भट को जीता है, यह कहते हैं—

मोहरूपो रिपुः पापः कषायभटसाधनः ।

दृष्टिसंपदुपेक्षास्त्रैस् त्वया धीर! पराजितः ॥५॥

अन्वयार्थ—(हे धीर) परीषहादि से जिनका चित्त कभी क्षोभ को प्राप्त नहीं होता ऐसे हे अर जिनेन्द्र! (त्वया) आपने (पापः) पापरूप तथा (कषाय-भट-साधनः) कषायरूप योद्धाओं की सेना से सहित (मोहरूपो रिपुः) मोहनीय कर्मरूपी शत्रु को (दृष्टि-संपत्-उपेक्षा-अस्त्रैः) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप शस्त्रों के द्वारा (पराजितः) पराजित किया है।

अब मोह विजय का फल दिखाते हैं—

कन्दर्पस्योद्धरो दर्पस् - त्रैलोक्यविजयार्जितः ।

हेपयामास तं धीरे त्वयि प्रतिहतोदयः ॥६॥

अन्वयार्थ—(त्रैलोक्यविजयार्जितः) तीनों लोकों की विजय से उपार्जित (कन्दर्पस्य) कामदेव के (उद्धरः) उत्कट—बहुत भारी (दर्पः) गर्व ने (धीरे) धीर-वीर (त्वयि) आपके विषय में (प्रतिहतोदयः सन्) खण्डित प्रसर हो (तं) कामदेव को (हेपयामास) लज्जित किया था।

मोह और काम के जीतने का फल दिखाते हैं—

आयत्यां च तदात्वे च दुःखयोनिर्दुरुत्तरा ।

तृष्णानदी त्वयोत्तीर्णा विद्यानावा विविक्तया ॥७॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (आयत्यां च तदात्वे च) जो परलोक तथा इस लोक-दोनों ही जगह (दुःखयोनिः) दुखों की उत्पत्ति का कारण है तथा (दुरुत्तरा) जिसका पार करना अत्यन्त कठिन है, ऐसी (तृष्णानदी) तृष्णारूपी नदी (त्वया) आपने (विविक्तया) निर्दोष (विद्यानावा) विद्या—सम्यग्ज्ञानरूपी नौका के द्वारा (उत्तीर्णा) पार की है।

मोह, काम और तृष्णा के नष्ट होने पर जो हुआ, उसे दिखाते हैं—

अन्तकः क्रन्दको नृणां जन्मज्वरसखः सदा ।

त्वामन्तकान्तकं प्राप्य व्यावृत्तः कामकारतः ॥८॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (जन्मज्वरसखः) पुनर्जन्म तथा ज्वर आदि रोगों का मित्र और (सदा) हमेशा (नृणां क्रन्दकः) मनुष्यों को रूलाने वाला (अन्तकः) यम (अन्त-कान्तकं) यम का अन्त करने वाले (त्वाम्) आपको

(प्राप्य) प्राप्त कर (कामकारतः) अपनी स्वच्छन्द प्रवृत्ति से (व्यावृत्तः) उपरत हुआ है।

अब भगवान् के मोहादि का क्षय कैसे जाना गया ? यह कहते हैं—

भूषावेषायुधत्यागि विद्यादमदयापरम् ।

रूपमेव तवाचष्टे धीर! दोषविनिग्रहम् ॥९॥

अन्वयार्थ—(धीर!) हे धीर! अर जिनेन्द्र! (भूषावेषायुधत्यागि) आभूषणों, वेषों तथा शस्त्र का त्याग करने वाला तथा (विद्यादमदयापरम्) ज्ञान, इन्द्रिय-दमन और दया में तत्पर (तव) आपका (रूपमेव) रूप ही (दोष-विनिग्रहं) रागादि दोषों के अभाव को (आचष्टे) कहता है।

मोह का निग्रह होने पर जो हुआ, उसे दर्शाते हैं—

समन्ततोऽङ्गभासां ते परिवेषेण भूयसा ।

तमो बाह्यमपाकीर्ण-मध्यात्मं ध्यानतेजसा ॥१०॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (समन्ततः) सब ओर फैलने वाले (ते) आपके (अङ्ग-भासां) शरीर सम्बन्धी प्रभाओं के (भूयसा) विशाल (परिवेषेण) मण्डल के द्वारा (बाह्यं) बाह्य (तमः) अन्धकार (अपाकीर्णं) नष्ट हुआ है और (ध्यान-तेजसा) ध्यानरूप तेज के द्वारा (अध्यात्मं) ज्ञानावरणादि कर्मरूप अन्तरंग का अन्धकार (अपाकीर्णम्) नष्ट हुआ है।

अब भगवान् की पूजा के अतिशय का वर्णन करते हैं—

सर्वज्ञज्योतिषोद्भूतस् तावको महिमोदयः ।

कं न कुर्यात् प्रणम्रं ते सत्त्वं नाथ! सचेतनम् ॥११॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हे अरनाथ जिनेन्द्र! (ते) आपकी (सर्वज्ञ-ज्योतिषा) समस्त पदार्थों को जानने वाली केवलज्ञानरूपी ज्योति से (उद्भूतः) उत्पन्न हुआ (तावकः) आपकी (महिमोदयः) महिमा का उत्कर्ष (कं) किस (सचेतनं) गुणदोष के विचार में चतुर (सत्त्वं) प्राणी को (प्रणम्रं) नम्रीभूत (न कुर्यात्) नहीं कर देता है ? —सबको कर देता है।

आगे भगवान् के वचनों का अतिशय दिखलाते हैं—

तव वागमृतं श्रीमत्-सर्वभाषास्वभावकम् ।

प्रीणयत्यमृतं यद्वत्-प्राणिनो व्यापि संसदि ॥१२॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (श्रीमत्) पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करने

रूप लक्ष्मी सहित (सर्वभाषास्वभावकम्) समस्त भाषाओं रूप परिणमन करने वाले स्वभाव से युक्त तथा (संसदि) समवसरण सभा में (व्यापि) व्याप्त होने वाला (तव) आपका (वागमृतं) वचनरूप अमृत (अमृतं यद्भूत्) अमृत के समान (प्राणिनः) प्राणियों को (प्रीणयति) सन्तुष्ट करता है।

आगे अनेकान्तदृष्टि ही समीचीन है, यह दिखाते हैं—

अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः।

ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात् तदयुक्तं स्वघाततः ॥१३॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (ते) आपकी (अनेकान्तात्मदृष्टिः) अनेकान्तरूप दृष्टि (सती) सत्यार्थ है, उससे (विपर्ययः) विपरीत एकान्तमत (शून्यः) शून्यरूप असत् है, (ततः) इसलिए (तदयुक्तं) उस अनेकान्तदृष्टि से रहित (सर्वं) सब (उक्तं) कथन (स्वघाततः) स्वघातक होने से (मृषा स्यात्) मिथ्या रूप है अथवा (ततः) एकान्तमत के आश्रय से (उक्तं) कहा हुआ (सर्वं) समस्त वस्तुस्वरूप (मृषा) असत्य है तथा (स्वघाततः) स्व घातक होने से (तद्) वह (अयुक्तं) अनुचित है।

आगे अनेकान्तदृष्टि में संभावित दोषों का परिहार करते हैं—

ये परस्खलितोन्निद्राः स्वदोषेभनिमीलिनः।

तपस्विनस्ते किं कुर्युर - पात्रं त्वन्मतश्रियः ॥१४॥

अन्वयार्थ—(ये) जो एकान्तवादी (परस्खलितोन्निद्राः) पर—अनेकान्तमत में स्खलित—विरोध आदि दोषों के देखने में उन्निद्र—जागृत रहते हैं और (स्वदोषेभ-निमीलिनः) स्व—अपने सदेकान्त आदि एकान्त में दोष—स्वघातत्व आदि दोषों के विषय में इभनिमीलन—गज निमीलन से युक्त हैं अर्थात् उन्हें देखते हुए भी नहीं देखते हैं, (ते) वे (तपस्विनः) बेचारे (किं कुर्युः) क्या करें—स्वपक्ष सिद्धि और परपक्ष के निराकरण में वे असमर्थ हैं तथा (त्वन्मतश्रियः) आपके मतरूपी लक्ष्मी के (अपात्रं) अपात्र हैं।

अब तत्त्व की अवक्तव्यता का निराकरण करते हैं—

ते तं स्वघातिनं दोषं शमीकर्तुमनीश्वराः।

त्वद्द्विषःस्वहनो बालास्-तत्त्वावक्तव्यतां श्रिताः ॥१५॥

अन्वयार्थ—(ते) वे एकान्तवादी (तं) उस पूर्वोक्त (स्वघातिनं दोषं) स्वघाती दोष को (शमीकर्तुं) शमन करने के लिए (अनीश्वराः) असमर्थ हैं,

(त्वद्द्विषः) आप-अनेकान्तवादी से द्वेष रखते हैं, (स्वहनः) अपने आपका घात करने वाले हैं, (बालाः) यथावद्वस्तुस्वरूप से अनभिज्ञ हैं और इसीलिए (तत्त्वावक्तव्यतां श्रिताः) तत्त्व की अवक्तव्यता का आश्रय लेते हैं।

आगे वक्ता के कैसे अभिप्राय सत्य हैं और कैसे असत्य हैं ? यह दिखलाते हैं—

सदेकनित्यवक्तव्यास्-तद्विपक्षाश्च ये नयाः ।

सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितिह ते ॥१६॥

अन्वयार्थ—(सदेकनित्यवक्तव्याः) सद्, एक, नित्य, वक्तव्य (च) और (तद्विपक्षाः) इनसे विपरीत असत्, अनेक, अनित्य, अवक्तव्य (ये नयाः) ये जो नय हैं, (ते) वे (इह) इस जगत् में (सर्वथा इति) सर्वथा रूप से (प्रदुष्यन्ति) वस्तु तत्त्व को अत्यधिक विकृत करते हैं—सदोष बनाते हैं और (स्यात् इति) स्यात्-कथञ्चित्-रूप से वस्तु तत्त्व को (पुष्यन्ति) पुष्ट करते हैं।

अब स्यात् शब्द की महिमा दिखलाते हैं—

सर्वथानियमत्यागी, यथादृष्टमपेक्षकः ।

स्याच्छब्दस्तावकेन्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥१७॥

अन्वयार्थ—(सर्वथानियमत्यागी) सर्वथारूप नियम का त्याग करने वाला तथा (यथादृष्टमपेक्षकः) यथादृष्टप्रमाणसिद्ध वस्तुस्वरूप की अपेक्षा रखने वाला (स्याच्छब्दः) स्यात् शब्द (तावके न्याये) आपके न्याय में है, (आत्म-विद्विषाम्) अपने आपके वैरी (अन्येषां) अन्य एकान्तवादियों के न्याय में (न) नहीं हैं।

अब अनेकान्त भी अनेकान्त एवं एकान्त रूप है, यह दिखलाते हैं—

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः ।

अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥१८॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (ते) आपके मत में (अनेकान्तः अपि) अनेकान्त भी (प्रमाणनयसाधनः) प्रमाण और नयरूप साधनों से युक्त होने के कारण (अनेकान्तः) अनेकान्तस्वरूप है। (प्रमाणात्) प्रमाण की अपेक्षा (अनेकान्तः) अनेकान्तस्वरूप है और (अर्पितात् नयात्) विवक्षित नय से (तदेकान्तः) अनेकान्त में एकान्तस्वरूप है।

अब प्रकृत अर्थ का संकोच करते हुए कहते हैं—

इति निरुपमयुक्तशासनः प्रियहितयोगगुणानुशासनः ।

अरजिन! दमतीर्थनायकस्त्वमिव सतां प्रतिबोधनायकः ॥१९॥

अन्वयार्थ—(इति) इस तरह (अरजिन) हे अर जिनेन्द्र! आप (निरुपमयुक्त-शासनः) उपमा रहित प्रत्यक्षादि प्रमाणों से युक्त शासन से सहित हैं, (प्रियहित-योग-गुणानुशासनः) सुखदायक तथा फलकाल में हितकारक मन, वचन, काय के प्रशस्त व्यापाररूप योग और सम्यग्दर्शनादि गुणों का उपदेश देने वाले हैं तथा (दमतीर्थ-नायकः) इन्द्रियविजय को सूचित करने वाले आगम के नायक हैं। हे नाथ! (त्वमिव) आपके समान (सतां प्रतिबोधनाय) विद्वज्जनों को प्रतिबोध देने के लिए (कः) दूसरा कौन है? कोई नहीं है।

अब स्तुति के फल की याचना करते हुए कहते हैं—

मतिगुणविभवानुरूपतस् त्वयि वरदागमदृष्टिरूपतः ।

गुणकृशमपि किञ्चनोदितं मम भवताद् दुरितासनोदितम् ॥२०॥

अन्वयार्थ—(हे वरद) हे वर को प्रदान करने वाले अरजिनेन्द्र! मैंने (मति-गुण-विभवानुरूपतः) अपनी बुद्धि के गुणों की सामर्थ्य के अनुरूप तथा (आगमदृष्टिरूपतः) आगम से प्राप्त हुई दृष्टि के अनुसार (त्वयि) आपके विषय में (किञ्चन गुणकृशमपि) आपके गुणों का जो कुछ थोड़ा-सा (उदितं) वर्णन किया है, वह वर्णन (मम) मेरे (दुरितासनोदितम्) पापों के नष्ट करने में समर्थ (भवतात्) होवे।

### श्री मल्लिजिनस्तवनम्

केवलज्ञान होने पर भगवान् को सब प्रणाम करते थे, यह कहते हैं—

यस्य महर्षेः सकलपदार्थ-प्रत्यवबोधः समजनि साक्षात् ।

सामरमर्त्यं जगदपि सर्वं प्राञ्जलि भूत्वा प्रणिपततिस्म ॥१॥

अन्वयार्थ—(यस्य महर्षेः) जिन महर्षि के (सकलपदार्थ-प्रत्यव-बोधः) जीवादि समस्त पदार्थों को सब ओर से अशेष-विशेषता के साथ जानने वाला केवलज्ञान (साक्षात्) स्पष्टरूप से (समजनि) उत्पन्न हुआ, इसलिए जिन्हें (सामरमर्त्यं) देवों तथा मनुष्यों से सहित (सर्वमपि जगत्) सभी संसार ने (प्राञ्जलि भूत्वा) बद्धाञ्जलि होकर (प्रणिपतति स्म) प्रणाम किया, उन

मल्लिजिन की शरण को प्राप्त हुआ हूँ।

आगे भगवान् के शरीर और वचन का वर्णन करते हैं—

**यस्य च मूर्तिः कनकमयीव स्वस्फुरदाभाकृतपरिवेषा।**

**वागपि तत्त्वं कथयितुकामा स्यात्पदपूर्वा रमयति साधून्॥२॥**

**अन्वयार्थ—(कनकमयीव)** सुवर्ण से निर्मित के समान (**स्व-स्फुरदाभा-कृतपरिवेषा**) अपनी देदीप्यमान आभा से समस्त शरीर में व्याप्त भामण्डल को करने वाली (**यस्य मूर्तिः**) जिनकी मूर्ति—शरीराकृति (**च**) और (**तत्त्वं कथयितुकामा**) वस्तुस्वरूप को प्रकाशित करने की इच्छुक एवं (**स्यात्पद-पूर्वा**) स्यात्पद से सहित (**यस्य**) जिनकी (**वागपि**) वाणी भी (**साधून्**) भव्यजीवों को (**रमयति**) प्रसन्न करती है, उन मल्लिजिन की शरण को प्राप्त हुआ हूँ।

अब भगवान् के विहार के समय होने वाली पृथ्वी की विशेषता दिखलाते हैं—

**यस्य पुरस्ताद्विगलितमाना न प्रतितीर्थ्या भुवि विवदन्ते।**

**भूरपि रम्या प्रतिपदमासीज्जातविकोशाम्बुजमृदुहासा ॥३॥**

**अन्वयार्थ—(यस्य)** जिनके (**पुरस्तात्**) आगे (**विगलितमानाः**) गलित मान हुए (**प्रतितीर्थ्याः**) एकान्तवादी जन (**भुवि**) पृथ्वी पर (**न विवदन्ते**) विवाद नहीं करते थे और जिनके विहार के समय (**भूरपि**) पृथ्वी भी (**प्रतिपदं**) डग-डग पर (**जात-विकोशाम्बुजमृदुहासा**) विकसित कमलों से कोमल हास को धारण करती हुई (**रम्या**) मनोहर (**आसीत्**) हुई थी, उन मल्लिजिन की शरण को प्राप्त हुआ हूँ।

अब भगवान् की शिष्य-सम्पदा का वर्णन करते हैं—

**यस्य समन्ताज्जिनशिशिरांशोः शिष्यकसाधुग्रहविभवोऽभूत्।**

**तीर्थमपि स्वं जननसमुद्र, -त्रासितसत्त्वोत्तरणपथोऽग्रम् ॥४॥**

**अन्वयार्थ—(यस्य जिनशिशिरांशोः)** जिन मल्लि जिनेन्द्ररूपी चन्द्रमा के (**समन्तात्**) चारों ओर (**शिष्यकसाधुग्रहविभवः**) शिष्यसाधुरूप ग्रहों का—ताराओं का विभव (**अभूत्**) विद्यमान था और जिनका (**स्वं**) अपना (**तीर्थमपि**) शास्त्र भी (**जनन-समुद्र-त्रासित-सत्त्वोत्तरणपथः अग्रम्**) संसाररूपी समुद्र से भयभीत प्राणियों के पार उतरने का प्रधान मार्ग था, उन मल्लिजिनेन्द्र की शरण को प्राप्त हुआ हूँ।

अब भगवान् के शुक्लध्यान की महिमा कहते हैं—

यस्य च शुक्लं परमतपोऽग्नि ध्यानमनन्तं दुरितमधाक्षीत्।

तं जिनसिंहं कृतकरणीयं मल्लिमशल्यं शरणमितोऽस्मि ॥५॥

अन्वयार्थ—(च) और (यस्य) जिनके (शुक्लं ध्यानं) शुक्लध्यानरूप (परमतपोऽग्निः) उत्कृष्ट तपरूपी अग्नि ने (अनन्तं) अन्त को प्राप्त न होने वाले (दुरितं) अष्टकर्मरूप पाप को (अधाक्षीत्) दग्ध किया था, (तं) उन (जिनसिंहं) जिनश्रेष्ठ (कृतकरणीयं) कृतकृत्य, (अशल्यं) माया, मिथ्यात्वादि शल्यों से रहित (मल्लिमं) मल्लिजिनेन्द्र की (शरण-मितोऽस्मि) शरण को प्राप्त हुआ हूँ।

### श्री मुनिसुव्रतजिनस्तवनम्

अब भगवान् के मुनिसुव्रत इस नाम की सार्थकता बतलाते हैं—

अधिगतमुनिसुव्रतस्थितिर्मुनिवृषभो मुनिसुव्रतोऽनघः।

मुनिपरिषदि निर्बभौ भवानुडु परिषत्परिवीतसोमवत् ॥१॥

अन्वयार्थ—(अधिगतमुनिसुव्रतस्थितिः) जिन्होंने मुनियों के उत्तम व्रतों की स्थिति को अधिगत—सुनिश्चित अथवा प्राप्त कर लिया है, जो (मुनिवृषभः) मुनियों में श्रेष्ठ हैं और जो (अनघः) चार घातियाकर्मरूपी पाप से रहित हैं, ऐसे (भवान्) आप (मुनिसुव्रतः) ‘मुनिसुव्रत’ इस सार्थक नाम को धारण करने वाले जिनेन्द्र (मुनि-परिषदि) समवसरण के बीच मुनियों की सभा में (उडुपरिषत्परिवीतसोमवत्) नक्षत्रों के समूह से घिरे हुए चन्द्रमा के समान (निर्बभौ) सुशोभित हुए थे।

अब भगवान् के शरीर का अतिशय कहते हैं—

परिणतशिखिकण्ठरागया कृतमदनिग्रहविग्रहाभया।

तव जिन! तपसः प्रसूतया ग्रहपरिवेषरुचेव शोभितम् ॥२॥

अन्वयार्थ—(कृतमदनिग्रह) काम अथवा अहंकार का निग्रह करने वाले (जिन!) हे मुनिसुव्रत जिनेन्द्र! (परिणतशिखिकण्ठरागया) तरुण मयूर के कण्ठ के समान वर्णवाली (तपसः प्रसूतया) तप से उत्पन्न (तव विग्रहाभया) आपके शरीर की आभा—चारों ओर फैलने वाली दीप्ति (ग्रहपरिवेषरुचेव) चन्द्रमा के परिवेष—परिमण्डल की दीप्ति के समान (शोभितं) सुशोभित हुई थी।



भगवान् का शरीर कैसा था ? यह कहते हैं—

शशिरुचिशुचिशुक्ललोहितं सुरभितरं विरजो निजं वपुः।

तव शिवमतिविस्मयं यते! यदपि च वाङ् मनसीयमीहितम् ॥३॥

अन्वयार्थ—(यते) हे महामुनिराज! (शशिरुचिशुचिशुक्ललोहितं) चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल एवं सफेद खून से युक्त, (सुरभितरं) अत्यन्त सुगन्धित और (विरजः) रजरहित—मलरहित जो (तव) आपका (निजं वपुः) अपना शरीर (शिवं) अत्यन्त शुभ तथा (अतिविस्मयं) अत्यन्त आश्चर्य करने वाला था (च) और (वाङ्-मनसीयमपि) वचन तथा मन की भी (यत् ईहितं) जो चेष्टा थी, वह भी (अतिविस्मयं) अत्यन्त आश्चर्य करने वाली थी।

अथवा

अन्वयार्थ—(हे जिन) हे मुनिसुव्रतजिनेन्द्र! (तव) आपका (वपुः) शरीर (परिणत-शिखिकण्ठरागया) तरुण मयूर के कण्ठ के समान वर्णवाली (तपसः) अनशनादि तप से (प्रसूतया) उत्पन्न (कृतमदनिग्रहविग्रहाभया) मदन-मद अथवा गर्व का निग्रह करने वाले शरीर की आभा से उस तरह (शोभितं) शोभित हुआ था, जिस तरह (ग्रहपरिवेषरुचा 'चन्द्र' इव) ग्रह परिवेष की कान्ति से चन्द्रमा। (तव) आपका वह (निजं) अपना (वपुः) शरीर (शशिरुचिशुचिशुक्ललोहितं) चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल एवं सफेद खून से युक्त, (सुरभितरं) अत्यन्त सुगन्धित, (विरजः) रज रहित, (शिवं) शुभ तथा (अतिविस्मयं) अत्यन्त आश्चर्य उत्पन्न करने वाला था (च) और (यते) हे महामुनिराज! आपके (वाङ्-मनसीयमपि) वचन और मन की भी (यत्) जो (ईहितं) चेष्टा थी, (तदपि) वह भी (अतिविस्मयं) अत्यन्त आश्चर्य करने वाली थी।

अब भगवान् की सर्वज्ञता के परिचायक वचनों की महिमा दिखाते हैं—

स्थितिजनननिरोधलक्षणं चरमचरं च जगत् प्रतिक्षणम्।

इति जिन! सकलज्ञलाञ्छनं वचनमिदं वदतांवरस्य ते ॥४॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे मुनिसुव्रत जिनेन्द्र! (चरं) चेतन (च) और (अचरं) अचेतनरूप (जगत्) संसार (प्रतिक्षणं) क्षण-क्षण में (स्थिति-जनन-निरोधलक्षणं) ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय रूप लक्षण से युक्त है, (इति इदं) इस प्रकार का यह जो (वदतांवरस्य ते) वक्तृ प्रवर आपका (वचनं) वचन है, वह

(सकलजलाञ्छनं) सर्वज्ञ का चिह्न है—आपकी सर्वज्ञता का द्योतक है।

अब स्तोता, स्तुति के फल की याचना करता है—

दुरितमलकलङ्कमष्टकं, निरुपमयोगबलेन निर्दहन्।

अभवदभवसौख्यवान्भवान्, भवतु ममापि भवोपशान्तये ॥५॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (निरुपमयोगबलेन) अनुपम शुक्लध्यान के बल से (अष्टकं) आठ प्रकार के (दुरितमलकलङ्कं) कर्ममल-कलंक को (निर्दहन्) जलाते हुए (भवान्) आप (अभवसौख्यवान्) मोक्ष सम्बन्धी अतीन्द्रिय सुख से युक्त (अभवत्) हुए हैं, ऐसे आप (ममापि) मुझ समन्तभद्र के भी (भवोपशान्तये) संसार की उपशान्ति के लिए (भवतु) हों।

### श्री नमिजिनस्तवनम्

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशल-परिणामाय स तदा  
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः।  
किमेवं स्वाधीन्याजगति सुलभे श्रायसपथे  
स्तुयान् त्वां विद्वान्सततमभिपूज्यं नमिजिनम् ॥१॥

अन्वयार्थ—(स्तुतिः) भगवान् की स्तुति (स्तोतुः) स्तुति करने वाले (साधोः) भव्यपुरुष के (कुशलपरिणामाय) पुण्यसाधक-प्रशस्त परिणाम के लिए होती है (तदा) स्तुति के काल अथवा स्तुति के देश में (सः स्तुत्यः) वह स्तुति का पात्र आराध्यदेव (भवेत् मा वा) हो अथवा न हो (च) और (ततः) उस स्तुत्य से (तस्य सतः) उस स्तुति करने वाले भव्य पुरुष को (फलमपि) स्वर्गादि फल की प्राप्ति भी (भवेन्मा वा) हो अथवा न हो (एवं) इस प्रकार (जगति) संसार में (स्वाधीन्यात्) स्वाधीनता से (श्रायसपथे) कल्याण अथवा सम्यग्दर्शनादि मोक्षसम्बन्धी मार्ग के (सुलभे 'सति') सुलभ रहने पर (किं) क्या (विद्वान्) विचारपूर्वक कार्य करने वाला विवेकीजन (सततं) सदा (अभिपूज्यं) इन्द्रादि के द्वारा पूज्य (त्वां नमिजिनं) आप नमिजिनेन्द्र की (न स्तुयात्) स्तुति न करें? अवश्य करें।

नमि जिनेन्द्र ने ऐसा कौन-सा कार्य किया, जिससे वे इस प्रकार पूज्य हुए ? यह दिखाते हैं—

त्वया धीमन्! ब्रह्मप्रणिधिमनसा जन्मनिगलं  
समूलं निर्भिन्नं त्वमसि विदुषां मोक्षपदवी।

त्वयि ज्ञानज्योतिर्विभवकिरणैर्भाति भगवन्-  
नभूवन्खद्योता इव शुचिरवावन्यमतयः॥२॥

अन्वयार्थ—(हे धीमन्) हे विशिष्ट बुद्धि से युक्त नमिजिनेन्द्र! (ब्रह्मप्रणिधि-  
मनसा) शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थिर चित्त वाले (त्वया) आपके द्वारा (जन्म-  
निगलं) संसाररूपी बन्धन (समूलं) मूल-कारण सहित (निर्भिन्नं) नष्ट किया  
गया है, इसलिए (त्वम्) आप (विदुषां) विद्वानों के लिए (मोक्षपदवी)  
मोक्षमार्गस्वरूप (असि) हैं। (भगवन्) हे भगवन्! (त्वयि) आपके (ज्ञान-  
ज्योतिर्विभवकिरणैः) केवलज्ञानज्योति की सम्पदारूप किरणों के द्वारा  
(भाति 'सति') सुशोभित होने पर (अन्यमतयः) सुगत, कपिल, ईश्वर आदि  
अन्यमतावलम्बीजन (शुचिरवौ) ग्रीष्मऋतु के सूर्य के देदीप्यमान रहने पर  
(खद्योता इव) जुगनुओं के समान (अभूवन्) हो गये थे।

अब सप्तभंगों के आश्रय से भगवान् ने तत्त्व का उपदेश दिया है? यह दिखाते हैं—

विधेयं वार्यं चानुभयमुभयं मिश्रमपि तद्  
विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चापरिमितैः।  
सदान्योऽन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा  
त्वया गीतं तत्त्वं बहुनयविवक्षेतरवशात् ॥३॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा) समस्त संसार के महान्  
गुरु स्वरूप (त्वया) आपने (बहुनयविवक्षेतरवशात्) अनेक नयों की विवक्षा  
और अविवक्षा के वश (प्रत्येकं) विधि-निषेध, मूर्त-अमूर्त, स्थूल-सूक्ष्म आदि  
प्रत्येक धर्म का लक्ष्य कर (नियमविषयैः) 'भंग' सात ही होते हैं हीनाधिक  
नहीं, इस नियम के विषयभूत (च) और (सदान्योऽन्यापेक्षैः) सदा एक दूसरे की  
अपेक्षा रखने वाले (अपरिमितैः) अनन्त (विशेषैः) त्रैकालिक धर्मों के द्वारा  
(तत्त्वं) उस वस्तु स्वरूप को (विधेयं) विधिस्वरूप, (वार्यं) निषेध स्वरूप,  
(उभयं) विधि-निषेध स्वरूप, (अनुभयं) अवक्तव्य स्वरूप (च) और  
(मिश्रमपि) मिश्ररूप भी—अर्थात् स्यादस्ति-अवक्तव्य, स्यान्नास्ति-अवक्तव्य  
तथा स्यादस्ति-नास्ति-अवक्तव्य इस तरह सात भंग रूप (गीतं) कहा है।

आगे निर्ग्रन्थ दशा के बिना अहिंसा संभव नहीं है, यह दिखलाते हैं—

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं  
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।

ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं  
भवानेवात्याक्षीन् च विकृतवेषोपधिरतः ॥४॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (भूतानां) प्राणियों की (अहिंसा) अहिंसा (जगति) जगत् में (परमं ब्रह्म) परम ब्रह्मरूप से (विदितं) प्रसिद्ध है अर्थात् अहिंसा ही परम ब्रह्म है, परन्तु (सा) वह अहिंसा (तत्र) उस (आश्रमविधौ) आश्रम विधि में (न अस्ति) नहीं है। (यत्र) जिसमें कि (अणुरपि) थोड़ा भी (आरम्भः) आरम्भ होता है, (ततः) इसलिए (तत्सिद्ध्यर्थं) उस अहिंसा धर्म की सिद्धि के लिए (परमकरुणः) परम दयालु होकर (भवानेव) आपने ही (उभयं) बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दोनों प्रकार के (ग्रन्थं) परिग्रह को (अत्याक्षीत्) छोड़ा है (च) और (विकृतवेषोपधिरतः) यथाजात लिंग के विरोधी वेष तथा परिग्रह में आसक्त (न 'अभवत्') नहीं हुए हैं।

आगे कहते हैं कि आपका शरीर ही वीतरागता को प्रकट कर रहा है—

वपुर्भूषावेषव्यवधिरहितं शान्तकरणं,  
यतस्ते संचष्टे स्मरशरविषातङ्कविजयम्।  
विना भीमैः शस्त्रैरदयहृदयामर्षविलयं,  
ततस्त्वं निर्मोहः शरणमसि नः शान्तिनिलयः ॥५॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (भूषावेषव्यवधिरहितं) आभूषण, वेष तथा वस्त्रादिक के आवरण से रहित और (शान्तकरणं) अपने-अपने विषयों से निःस्पृह इन्द्रियों से युक्त (ते) आपका (वपुः) शरीर (यतः) चूँकि (स्मरशर-विषातङ्क-विजयम्) काम के बाणरूप विष से उत्पन्न व्याधि की विजय को तथा (भीमैः शस्त्रैः विना) भयंकर शस्त्रों के बिना (अदय-हृदयामर्ष-विलयं) निर्दय हृदय सम्बन्धी क्रोध के विनाश को (संचष्टे) कह रहा है, (ततः) इसलिए (त्वं) आप (निर्मोहः) मोह रहित और (शान्ति-निलयः) कर्मक्षय से उत्पन्न होने वाली शान्ति के स्थान हैं तथा (नः) हमारे (शरणम्) शरणभूत-रक्षक (असि) हैं।

### श्री अरिष्टनेमिजिनस्तवनम्

इन विशेषणों से विशिष्ट भगवान् कैसे हुए? यह बतलाते हैं—

भगवानृषिः परमयोगदहनहुतकल्मषेन्धनः।  
ज्ञानविपुलकिरणैः सकलं प्रतिबुद्ध्य बुद्धकमलायतेक्षणः॥१॥

हरिवंशकेतु - रनवद्य - विनय - दम - तीर्थनायकः।

शीलजलधिरभवो विभवस्त्वमरिष्टनेमिजिनकुञ्जरोऽजरः ॥२॥

अन्वयार्थ—(भगवान्) जो विशिष्ट ज्ञानवान् अथवा इन्द्रादि के द्वारा पूज्य हैं, (ऋषिः) जो परम ऋद्धियों से सम्पन्न हैं, (परमयोगदहनहुत-कल्मषेन्धनः) उत्कृष्ट शुक्लध्यानरूपी अग्नि में जिन्होंने कर्मरूपी ईंधन को होम दिया है, (बुद्धकमलायतेक्षणः) जिनके नेत्र खिले हुए कमल के समान विशाल हैं, (हरिवंशकेतुः) जो हरिवंश के प्रधान हैं, (अनवद्यविनय-दमतीर्थनायकः) जो निर्दोष विनय और इन्द्रियदमन के प्रतिपादक शास्त्र के प्रवर्तक हैं, (शीलजलधिः) जो शील के समुद्र हैं और (अजरः) जो वृद्धावस्था से रहित हैं। ऐसे (त्वं) आप (अरिष्टनेमि-जिनकुञ्जरः) अरिष्टनेमि जिनेन्द्र (ज्ञान-विपुलकिरणैः) ज्ञानरूप विस्तृत किरणों के द्वारा (सकलं) समस्त लोकालोक को (प्रतिबुद्ध्य) प्रकाशित कर अथवा जानकर (विभवः) संसार से मुक्त (अभवः) हुए थे।

ऐसे भगवान् के चरण युगल कैसे थे ? यह कहते हैं—

त्रिदशेन्द्र - मौलिमणि - रत्नकिरण-विसरोप-चुम्बितम्।

पादयुगलममलं भवतो विकसत्कुशेशयदलारुणोदरम् ॥३॥

नखचन्द्ररश्मिकवचातिरु-चिरशिखराङ्गुलिस्थलम् ।

स्वार्थनियतमनसः सुधियः प्रणमन्ति मन्त्रमुखरा महर्षयः ॥४॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (स्वार्थनियतमनसः) मोक्षरूप स्वार्थ में जिनके मन नियन्त्रित हैं, (सुधियः) जो उत्तमबुद्धि से युक्त हैं और (मन्त्रमुखराः) जो 'णमो णेमिजिणाणं' इस सात अक्षर वाले मन्त्र से अथवा सामान्य स्तुति से वाचाल हैं, ऐसे (महर्षयः) गणधरादि बड़े-बड़े ऋषि (भवतः) आपके (तत्) उस (पादयुगलं) चरणयुगल को (प्रणमन्ति) प्रणाम करते हैं, (यत्) जो कि (त्रिदशेन्द्रमौलिमणिरत्न-किरणविसरोपचुम्बितम्) इन्द्रों के मुकुटों में लगे हुए मणियों और रत्नों की किरणों के समूह से चुम्बित हैं, (अमलं) निर्मल-उज्ज्वल हैं, (विकसत्कुशेशयदलारुणोदरं) जिनका तलभाग खिले हुए कमलदल के समान लालवर्ण का है तथा (नखचन्द्र-रश्मि-कवचाति-रुचिरशिखराङ्गुलिस्थलम्) जिनकी अंगुलियों का स्थान नखरूपी चन्द्रमा की किरणों के परिवेश से अत्यन्त मनोहर अग्रभाग से सहित है।

आगे नारायण और बलभद्र आपके चरणों में प्रणाम करते थे, यह कहते हैं—

द्युतिमद्रथाङ्ग - विबिम्बकिरण - जटिलांशुमण्डलः ।

नीलजलदजलराशिवपुः सह बन्धुभिर्गरुडकेतुरीश्वरः ॥५॥

हलभृच्च ते स्वजनभक्तिमुदितहृदयौ जनेश्वरौ ।

धर्मविनयरसिकौ सुतरां चरणारविन्दयुगलं प्रणेमतुः ॥६॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (द्युतिमद्रथाङ्गविबिम्बकिरणजटिलांशुमण्डलः) कान्तिमान् सुदर्शनचक्ररूपी सूर्यबिम्ब की किरणों से जिनकी कान्ति का मण्डल व्याप्त हो रहा है अथवा (जटिलांशुमण्डलः) कान्तिमान् सुदर्शनचक्ररूपी सूर्यबिम्ब की किरणों से जिनके कन्धे का प्रदेश व्याप्त हो रहा है, (नील-जलद-जलराशिवपुः) नीलमेघ और समुद्र के समान जिनका श्याम शरीर है (ईश्वरः) जो तीन खण्ड पृथ्वी के स्वामी हैं, ऐसे (गरुडकेतुः) श्रीकृष्ण (च) और (हलभृत्) बलभद्र इस प्रकार (स्वजनभक्तिमुदितहृदयौ) आत्मबन्धु की भक्ति से जिनके चित्त प्रसन्न हो रहे थे, (जनेश्वरौ) जो लोक के स्वामी थे और (धर्मविनय-रसिकौ) जो धर्मार्थ विनय के रसिक थे—ऐसे दोनों भाईयों ने (बन्धुभिः सह) अपने अन्य भाईयों के साथ (ते) आपके (चरणारविन्द-युगलं) चरण कमलों के युगल को (सुतरां) बार-बार (प्रणेमतुः) प्रणाम किया था ।

जिस पर्वत पर नारायण और बलभद्र ने प्रणाम किया था, उस ऊर्जयन्तगिरि का वर्णन करते हैं—

ककुदं भुवः खचरयोषिदुषितशिखरैरलङ्कृतः ।

मेघपटलपरिवीततटस्तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा ॥७॥

वहतीति तीर्थमृषिभिश्च सततमभिगम्यतेऽद्य च ।

प्रीतिविततहृदयैः परितो भृशमूर्जयन्त इति विश्रुतोऽचलः ॥८॥

अन्वयार्थ—(भुवः ककुदम्) जो पृथ्वी का ककुद है—बैल के कन्धे के समान ऊँचा तथा शोभा उत्पन्न करने वाला है, (खचरयोषिदुषित-शिखरैः) जो विद्याधरों की स्त्रियों से सेवित शिखरों के द्वारा (अलङ्कृतः) सुशोभित है, (मेघपटलपरिवीततटः) जिसके तट मेघों के समूह से घिरे रहते हैं, (वज्रिणा लिखितानि तव लक्षणानि वहति इति तीर्थं) जो इन्द्र के द्वारा लिखे हुए [हे नेमिजिन!] आपके चिह्नों को धारण करता है, इसलिए तीर्थस्थान है। (सततं

अद्य च) हमेशा तथा आज भी (प्रीतिविततहृदयैः) प्रीति से विस्तृत चित्त वाले (ऋषिभिश्च) ऋषियों के द्वारा जो (परितः) सब ओर से (भृशं) अत्यधिक (अभिगम्यते) सेवित है, (इति) ऐसा वह (विश्रुतः) अतिशय प्रसिद्ध (ऊर्जयन्तः अचलः) ऊर्जयन्त नाम का पर्वत है। (जिस पर जाकर कृष्ण और बलराम ने आपके चरणकमल-युगल को प्रणाम किया था)।

आगे भगवान् नेमिजिनेन्द्र के सर्वज्ञता सिद्ध करते हैं—

बहिरन्तरप्युभयथा च करणमविधाति नार्थकृत् ।  
 नाथ! युगपदखिलं च सदा त्वमिदं तलामलकवद् विवेदिथ ॥९॥  
 अत एव ते बुधनुतस्य चरितगुण-मद्भुतोदयम् ।  
 न्यायविहितमवधार्य जिने त्वयि सुप्रसन्नमनसः स्थिता वयम् ॥१०॥

अन्वयार्थ—(हे नाथ) हे स्वामिन्! (त्वं) आप (इदं अखिलं) इस समस्त संसार को (युगपत् च सदा) एक साथ और सर्वदा (तलामलकवत् विवेदिथ) हस्ततल पर रखे हुए स्फटिक के समान जानते हैं तथा आपके इस जानने में (बहिः) बाह्य (च) और (अन्तरपि) अभ्यन्तर (करणं) इन्द्रियाँ पृथक्-पृथक् (च उभयथा) और दोनों प्रकार से (अविधाति) बाधक नहीं हैं एवं (अर्थकृत् न) उपकारक भी नहीं हैं, (अतएव) इसीलिए (बुधनुतस्य) विद्वानों के द्वारा स्तुत (ते) आपके (अद्भुतोदयम्) आश्चर्यकारक अभ्युदय से युक्त तथा (न्यायविहितं) न्यायसिद्ध-आगम ज्ञान से सिद्ध (चरितगुणं) स्वकार्य की प्रसाधकता का (अवधार्य) निश्चय कर (वयं) हम (सुप्रसन्न-मनसः) अत्यन्त प्रसन्न चित्त होते हुए (त्वयि जिने) आप जिनेन्द्र में (स्थिताः) स्थित हुए हैं—आपके कार्य का साधक समझ आपकी शरण में आये हैं।

### श्री पार्श्व जिनस्तवनम्

उपसर्ग के समय भगवान् की निश्चलता का वर्णन करते हैं—

तमालनीलैः सधनुस्तडिद्गुणैः प्रकीर्णभीमाशनिवायुवृष्टिभिः ।  
 बलाहकैर्वैरिवशैरुपद्रुतो महामना यो न चचाल योगतः॥१॥

अन्वयार्थ—(तमालनीलैः) तमाल वृक्ष के समान नीलवर्ण, (सधनुस्तडिद्-गुणैः) इन्द्रधनुषों की बिजलीरूप डोरियों से सहित, (प्रकीर्ण-भीमाशनि-वायुवृष्टिभिः) भयंकर वज्र, आँधी और वर्षा को बिखेरने वाले ऐसे (वैरिवशैः) शत्रु के वशीभूत (बलाहकैः) मेघों के द्वारा (उपद्रुतः) उपद्रुत होने

पर भी (महामनाः) उत्कृष्ट धैर्य के धारक (यः) जो पार्श्वनाथ भगवान् (योगतः) शुक्लध्यानरूप योग से (न चचाल) विचलित नहीं हुए थे।

आगे धरणेन्द्र के द्वारा उपसर्ग निवारण का वर्णन करते हैं—

**बृहत्फणामण्डलमण्डपेन यं स्फुरत्तडित्पिङ्गरुचोपसर्गिणम्।**

**जुगूह नागो धरणो धराधरं विरागसन्ध्यातडिदम्बुदो यथा ॥२॥**

**अन्वयार्थ—(उपसर्गिणं)** उपसर्ग से युक्त (यं) जिन पार्श्वनाथ भगवान् को (धरणो नागः) धरणेन्द्र नामक नागकुमारदेव ने (स्फुरत्तडित्पिङ्गरुचा) चमकती हुई बिजली के समान पीली कान्ति से युक्त (बृहत्फणामण्डल-मण्डपेन) बहुत भारी फणामण्डलरूपी मण्डप के द्वारा (तथा) उस तरह (जुगूह) वेष्टित कर लिया था, (यथा) जिस तरह कि (विरागसन्ध्या-तडिदम्बुदः) काली संध्या के समय बिजली से युक्त मेघ (धराधरं) पर्वत को वेष्टित कर लेता है।

उपसर्ग को जीतकर भगवान् अरहन्त पद को प्राप्त हुए, यह कहते हैं—

**स्वयोगनिस्त्रिंशानिशातधारया निशात्य यो दुर्जयमोहविद्विषम्।**

**अवापदाहन्त्यमचिन्त्यमद्भुतं त्रिलोकपूजातिशयास्पदं पदम् ॥३॥**

**अन्वयार्थ—(यः)** जिन्होंने (स्वयोगनिस्त्रिंशानिशातधारया) अपने शुक्ल-ध्यानरूप खड्ग की तीक्ष्ण धारा के द्वारा (दुर्जयमोहविद्विषम्) मोहरूपी दुर्जय शत्रु को (निशात्य) नष्टकर (अचिन्त्यं) अचिन्तनीय (अद्भुतं) आश्चर्य-कारक गुणों से युक्त (त्रिलोक-पूजातिशयास्पदं) त्रिलोक की पूजा के अतिशय के स्थान (आहन्त्यं पदम्) आहन्त्यपद को (अवापत्) प्राप्त किया था।

भगवान् पार्श्वनाथ के प्रभाव से वशीभूत होकर अन्य तापस भी उनकी शरण आये, यह बतलाते हैं—

**यमीश्वरं वीक्ष्य विधूतकल्मषं तपोधनास्तेऽपि तथा बुभूषवः।**

**वनौकसः स्वश्रमवन्ध्यबुद्धयः शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे ॥४॥**

**अन्वयार्थ—(यं)** जिन पार्श्वनाथ भगवान् को (ईश्वरं) समस्त लोक के प्रभु तथा (विधूतकल्मषं) घातिचतुष्करूप पाप से रहित (वीक्ष्य) देखकर (तथा बुभूषवः) उन्हीं के समान होने के इच्छुक (वनौकसः) वनवासी (ते तपोधनाः अपि) वे तपस्वी भी (स्वश्रमवन्ध्यबुद्धयः) अपने प्रयास में



निष्फल बुद्धि होते हुए (शमोपदेशं) मोक्षमार्ग अथवा शान्ति का उपदेश देने वाले भगवान् पार्श्वनाथ की (शरणं प्रपेदिरे) शरण को प्राप्त हुए थे।

इस प्रकार भगवान् ने केवलज्ञान होने पर क्या किया ? सो कहते हैं—

स सत्यविद्यातपसां प्रणायकः समग्रधीरुग्रकुलाम्बरांशुमान्।

मया सदा पार्श्वजिनः प्रणम्यते विलीनमिथ्यापथदृष्टिविभ्रमः॥५॥

अन्वयार्थ—(सत्यविद्यातपसां प्रणायकः) जो सत्य विद्याओं तथा तपस्याओं के प्रणेता थे, (समग्रधीः) जो पूर्ण केवलज्ञान के धारक थे (उग्रकुलाम्बरांशुमान्) जो उग्रवंशरूपी कुल के चन्द्रमा थे और (विलीन-मिथ्यापथदृष्टिविभ्रमः) जिन्होंने मिथ्यामार्ग सम्बन्धी कुदृष्टियों से उत्पन्न विभ्रमों को नष्ट कर दिया था, (सः) वे (पार्श्वजिनः) पार्श्वजिनेन्द्र (मया) मुझ समन्तभद्र के द्वारा (सदा) हमेशा (प्रणम्यते) प्रणत किये जाते हैं—मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ।

### श्री वीरजिनस्तवनम्

आपके वे कौन से गुण हैं, जिनके द्वारा आपकी कीर्ति फैली है ? सो कहते हैं—

कीर्त्या भुवि भासि तया वीर! त्वं गुणसमुच्छ्रया भासितया।

भासोडुसभासितया सोम इव व्योम्नि कुन्दशोभासितया ॥१॥

अन्वयार्थ—(हे वीर!) हे वर्धमान जिनेन्द्र! (त्वं) आप (भुवि) पृथ्वी पर (गुणसमुच्छ्रया) आत्मा और शरीर सम्बन्धी गुणों से उत्पन्न (भासितया) सुशोभित अथवा उज्वल (तया) उस (कीर्त्या) ख्याति से (उडुसभासितया) नक्षत्रों की सभा में आसित—स्थित एवं (कुन्दशोभासितया) कुन्दकुसुम की शोभा के समान सफेद (भासा) कान्ति से (व्योम्नि) आकाश में (सोम इव) चन्द्रमा के समान (भासि) सुशोभित होते हैं।

तव जिन! शासनविभवो जयति कलावपि गुणानुशासनविभवः।

दोषकशासनविभवः स्तुवन्ति चैनं प्रभाकृशासनविभवः ॥२॥

अन्वयार्थ—(हे जिन) हे वीरजिनेन्द्र! (गुणानुशासनविभवः) भव्यजीवों के भव को नष्ट करने वाला (तव) आपके (शासनविभवः) प्रवचन का यथावस्थित समस्त पदार्थों के प्रतिपादन रूप सामर्थ्य (कलावपि) कलिकाल में भी (जयति) जयवन्त है—सर्वोत्कृष्ट रूप से वर्तमान है (च) और (प्रभा-कृशासनविभवः) प्रभा—ज्ञानादितेज से आसनविभुओं—लोक के तथाकथित

हरि-हरादि स्वामिओं को कृश-महत्त्वहीन करने वाले (दोषक-शासन-विभवः) दोषरूप चाबुकों के निराकरण करने में समर्थ गणधरादि देव (एनं) आपके इस शासन विभव की-प्रवचन सामर्थ्य की (स्तुवन्ति) स्तुति करते हैं।

वे इन्द्रादि जिनशासन की स्तुति करते हैं? सो कहते हैं—

अनवद्यः स्याद्वादस्तव दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः ।

इतरो न स्याद्वादो द्वितयविरोधान्मुनीश्वरास्याद्वादः ॥३॥

अन्वयार्थ—(हे मुनीश्वर) हे मुनिनाथ! (स्याद्वादः) 'स्यात्' इस कथञ्चित् अर्थ के वाचक शब्द से सहित (तव) आपका (स्याद्वादः) स्यादस्तीत्यादि अनेकान्तरूप कथन (दृष्टेष्टाविरोधतः) प्रत्यक्ष तथा आगम आदि प्रमाणों से विरोध न होने के कारण (अनवद्यः) निर्दोष है। इसके विपरीत (इतरः अस्याद्वादः) 'स्यात्' इस शब्द से रहित अन्य जो वाद-एकान्तरूप कथन है, वह (द्वितयविरोधात्) दृष्ट और इष्ट-प्रत्यक्ष तथा आगम आदि प्रमाणों से विरोध होने के कारण (अनवद्यः) निर्दोष (न) नहीं है।

प्रकारान्तर से भी भगवान् के गुणों को दर्शाते हैं—

त्वमसि सुरासुरमहितो ग्रन्थिकसत्त्वाशयप्रणामामहितः ।

लोकत्रयपरमहितोऽनावरणज्योतिरुज्ज्वलद्भामहितः ॥४॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (त्वम्) आप (सुरासुरमहितः) सुरों तथा असुरों से पूजित (असि) हैं, किन्तु (ग्रन्थिकसत्त्वाशयप्रणामामहितः) मिथ्यादृष्टि प्राणियों के अभक्त हृदय से प्राप्त होने वाले प्रणाम से पूजित नहीं हैं, आप (लोक त्रयपरमहितः) तीनों लोकों के परम हितकारी हैं और (अनावरण-ज्योतिरुज्ज्वलद्भामहितः) केवलज्ञान से प्रकाशमान मुक्तिरूप स्थान को प्राप्त हैं।

आपमें और भी क्या विशेषता है? यह कहते हैं—

सभ्यानामभिरुचितं दधासि गुणभूषणं श्रिया चारुचितम् ।

मग्नं स्वस्यां रुचितं जयसि च मृगलाञ्छनं स्वकान्त्या रुचितम् ॥५॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् आप (सभ्यानां) समवसरण सभा में स्थित भव्यजीवों के (अभिरुचितं) रुचिकर तथा (श्रिया) अष्टप्रातिहार्यरूप लक्ष्मी से (चारु-चितं) सुन्दरतापूर्वक व्याप्त (गुणभूषणं) गुणों के भूषण को अथवा गुणरूप आभूषण को (दधासि) धारण करते हैं (च) और (स्वकान्त्या) अपनी कान्ति

के द्वारा (स्वस्यां रुचितं) स्वकीय कान्ति में (मग्नं) निमग्न, (रुचितं) सुन्दर, (तं मृगलाञ्छनं) उस चन्द्रमा को (जयसि) जीतते हैं।

पुनः वे कौन से गुण हैं, जिन्हें भगवान् भूषण के समान धारण करते हैं? कहते हैं—

त्वं जिन! गतमदमायस्तव भावानां मुमुक्षुकामद! मायः।

श्रेयान् श्रीमदमायस्त्वया समादेशि सप्रयामदमायः ॥६॥

अन्वयार्थ—(मुमुक्षुकामद!) हे मोक्षाभिलाषी जीवों के मनोरथ को देने वाले (जिन!) वीर जिनेन्द्र! (त्वं) आप (गतमदमायः) गर्व और माया से रहित हैं तथा (तव) आपका (भावानां) जीवादि पदार्थ विषयक (मायः) केवलज्ञान अथवा आगमरूप प्रमाण (श्रेयान्) अत्यन्त श्रेष्ठ अथवा प्रशंसनीय है। हे भगवन्! (त्वया) आपने (श्रीमदमायः) लक्ष्मी के मद को नष्ट करने वाला अथवा स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त कराने वाली श्रीलक्ष्मी से युक्त और माया से रहित (सप्रयामदमायः) श्रेष्ठ एवं प्रशस्त इन्द्रियविजय का (समादेशि) उपदेश दिया है।

दूसरे प्रकार से भी भगवान् के गुणों की स्तुति करते हुये, कहते हैं—

गिरिभित्त्यवदानवतः, श्रीमत इव दन्तिनः स्रवद्धानवतः।

तव शमवादानवतो, गतमूर्जितमपगतप्रमादानवतः ॥७॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (गिरिभित्त्यवदानवतः श्रीमतः स्रवद्धानवतः दन्तिनः इव) जिस प्रकार पहाड़ की कटनियों में पराक्रम से युक्त अर्थात् उनका विदारण करने वाले उत्तम जाति विशिष्ट तथा झरते हुए मद से सहित हाथी का (ऊर्जितं) बलशाली अर्थात् रुकावट से रहित (गतं) गमन होता है, उसी तरह (शमवादान् अवतः) दोषों के उपशमन का उपदेश देने वाले शास्त्रों के रक्षक तथा (अपगतप्रमादानवतः) अभयदान से युक्त (तव) आपका (ऊर्जितं) उत्कृष्ट (गतं) गमन—विहार हुआ था।

अब पर-मत और आपका-मत कैसा है? सो कहते हैं—

बहुगुणसम्पदसकलं, परमतमपि मधुरवचनविन्यासकलम्।

नयभक्त्यवतंसकलं, तव देव! मतं समन्तभद्रं सकलम् ॥८॥

अन्वयार्थ—(हे देव!) हे वीर जिनदेव! (परमतं) अन्य एकान्तवादियों का शासन (मधुर-वचनविन्यासकलम् अपि) कर्णप्रिय वचनों के विन्यास से मनोज्ञ होता हुआ भी (बहुगुणसम्पदसकलं) अत्यधिक गुणरूप सम्पत्ति से

विकल है, परन्तु (तव) आपका (मतं) शासन (नयभक्त्यवतंसकलं) नैगमादि नयों से उत्पन्न स्यादस्तीत्यादि भंगरूप आभूषणों से मनोज्ञ है अथवा नयों की उपासनारूप कर्णाभरण को देने वाला है, (समन्तभद्रं) सब ओर से कल्याणकारक है और (सकलं) पूर्ण है।



### प्रभु शरण

प्रभुवर पाकर तेरी शरणा, हो अंत समाधिमरणा ॥  
 मैंने जीवन में बहु पाप किये, निज आतम को अति दुःख दिये।  
 अब और पाप ना करना, हो अंत समाधिमरणा ॥  
 नहीं सुमिरन हो मोहीजन का, न हो विकल्प तन का धन का।  
 मेरे अंतर्मन में बसना, हो अंत समाधिमरणा ॥  
 मैं क्षमा माँगता हूँ सबसे, तन से मन से और वचनों से।  
 मेरे मन को निर्मल रखना, हो अंत समाधिमरणा ॥  
 नहीं मन में विषय कषाय रहे, नहीं तन में रोग विषाद रहे।  
 रटे शुद्धोऽहं नित रसना, हो अंत समाधिमरणा ॥  
 धन दौलत की परवाह नहीं, और स्वर्ग सुखों की चाह नहीं।  
 मुझे मोक्ष महल में रहना, हो अंत समाधिमरणा ॥  
 नित प्रभुवर तुमरा ध्यान रहे, जिनवाणी मुख पर वास करे।  
 मुझे गुरु चरण में रहना, हो अंत समाधिमरणा ॥  
 अब भोगों की परवाह नहीं, यश मिल जाये कुछ चाह नहीं।  
 भावों को निर्मल रखना, हो अंत समाधिमरणा ॥  
 अरिहंत प्रभु की शरण मिली, अब सिद्ध प्रभु से लगन लगी।  
 मुझे साधु शरण में रहना, हो अंत समाधिमरणा ॥  
 जब लौ मम घट में श्वास रहे, मेरा मन भक्ति में लगा रहे।  
 जिनवाणी रंग में रंगना, हो अंत समाधिमरणा ॥  
 मुझे मुनि बनने की चाह जगी, अब जग से कोई न आस रही।  
 अब अपने में है रहना, हो अंत समाधिमरणा ॥